स्व० पं० चमूपति जी एम० ए०

वैदिक-सिद्धान्त

आत्मा-परमात्मा—सृष्टि की उत्पत्ति—ज्ञान का आरम्भ—मुक्ति और साधन—सुख-दुःख की समस्या

मैं क्या हूं ?

पुराना प्रश्न—मैं क्या हूँ ? यह प्रश्न धर्म ने किया है, तर्क ने किया है, और विज्ञान ने भी किया है। उपनिषद् में आत्मा को 'प्रतिबोधविदितम्' कहा है; कोई बोध हो, उसमें बोध वाले का बोध साथ लगा रहता है। मैं देखता हूँ—इसमें देखने के साथ 'मैं' का भाव भी है। यह वृक्ष है—मैं न होऊं तो वृक्ष होने की साक्षी क्या ? सब साक्षियों में अपनी साक्षी का सहभाव है। प्रत्येक चेष्टा अपनी चेष्टा होती है। प्रत्येक प्रत्यय (Cognition) अपना प्रत्यय (Cognition) होता है। इसी अपना वा आप को संस्कृत में 'आत्मा' कहते हैं।

प्रयत्न ज्ञान

ऋग्वेद मं० १० सू० १६४ मं० ३७ में यह पहेली प्रस्तुत आत्मा के लिग की है—

न विजानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।

अर्थः—मैं नहीं जानता, क्या मैं यही हूँ (जो दीखता हूं अर्थात् शरीर) ? मैं तो सन्नद्ध (प्रयत्न के लिए उद्यत) होकर मनसा मनन शक्ति (न्याय दर्शन के शब्दों में ज्ञान) द्वारा चरामि गति करता हूँ।

शरीर जड़ होने से न स्वयं प्रयत्नवान् है, न ज्ञानवान्। न ही उसमें स्वतन्त्र ज्ञानपूर्वक गति (मनसा चरणम्) करने का सामर्थ्य है।

इच्छा द्वेष

इसके विरीत आत्मा

आपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्येना सयोनिः।

ऋ० १, १६४, ३८

स्वयं अमरण-धर्मा है परन्तु मरणधर्मा शरीर के साथ एक स्थानी होकर (स्वधया) अपनी इच्छा से जकड़ा हुआ किसी वस्तु की ओर जाता और किसी वस्तु से परे हटता है। अर्थात् इसमें राग और द्वेष का भाव है। लोहा भी जड़ चुम्बक की ओर खिंचता है, परन्तु उस खिंचने में उसकी अपनी इच्छा नहीं होती, इच्छा हो तो कभी भी न खिंचे। आत्मा में राग और द्वेष की शक्ति है जिसका विकास और प्रयोग वह स्वतन्त्रता से कर सकता है, जो चुम्बक अथवा लोहा नहीं कर सकता। इससे सिद्ध हुआ कि राग और द्वेष 'आत्मा' ही के चिह्न हैं।



मुनिवर गुरुदत्तजी

सुख दुःख

इच्छा और द्वेष सुख दुःख का फल हैं। जिस वस्तु से सुख हो उसकी इच्छा होती है, जिससे दुःख हो उससे द्वेष होता है। सुख दुःख शरीर मात्र के ज्ञापक नहीं हो सकते। अचेतन को सुख दुःख का भान क्या ?

ऋ० १, १६४, १ में आत्मा को अश्नः अर्थात् सुख दुःख भोक्ता कहा है।

इस प्रकार उपरिलिखित तीन मन्त्रों में आत्मा के छः लिंग बताए गए।

अन्य लिंग

सुख दुःखेच्छा द्वेष प्रयत्न ज्ञानानि आत्मनो लिङ्गम् ।
—न्याय

ये लिंग वे है जिनमें सदा आत्मा का संकल्प साथ रहता है। संकल्प न हो तो सहसा न दुःख होता है न सुख। न राग, न द्वेष, न प्रयत्न, न ज्ञान। मन का संयोग न होने मात्र से ही ये लिङ्ग सिद्ध नहीं होते। इन लिङ्गों के अतिरिक्त कुछ लिङ्ग ऐसे हैं जो आत्मा के होने मात्र से स्वतः—बिना मनोयोग—सिद्ध होते हैं। इनका वर्णन अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्र में आया है।

यदेजति पतति यच्चतिष्ठति प्राणदप्राणन्निमिषच्च यद्भुवत् ।
तद्दाधार पृथ्वी विश्वरूपं तत्संभूय भवत्येकमेव ॥ ऋ० १०, ८, ११

जो (भुवत्) अपनी सत्ता मात्र से कंपन, पतन, ठहराव (गति), प्राण लेना, न लेना (प्राणापान), आंख झपकाना (निमेषोन्मेष) आदि चेष्टाएं करता है, उसने (विश्वरूपम्) सर्वेन्द्रिय प्रत्यय वाले (रूप्यते प्रतीयत इति रूपम्) पार्थिव शरीर का धारण किया है और जिसमें उन प्रत्ययों की संभूति हो कर सब ज्ञान एक हो जाता है। (इन्द्रियान्तर्विकारः)

इस मन्त्र में वैशेषिक दर्शन कथित प्राणापान, निमेषोन्मेष, गति, इन्द्रियान्तर्विकार इन लिंगों का वर्णन किया है।

इन्द्रियों के प्रत्ययों का एकीकरण

यही नहीं न्यायसूत्र के 'सव्यदृष्टस्येतराभिज्ञानात्' (बाईं आंख का देखा हुआ दाईं आंख से पहिचाना जाता है।) का भी समावेश इस मन्त्र के 'संभूय' शब्द में समझना चाहिए।

इसी विषय को ऋ० १, १६४, १५ में अधिक स्पष्ट किया है यथा—

साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति ।

७ प्रकार का एक साथ ज्ञान देने वाली इन्द्रियों (दो कान, दो नासिकाएं, दो नेत्र, एक मुख) को, जिनमें से ६ (कान, नथुने, नेत्र) यम (जोड़े) हैं, एक ज्ञानसाधन बना कर प्रकट होने वाले को (आत्मा) कहते हैं।

जिस बात को वेद ने स्पष्ट खोलकर कहा था, उसी को दर्शनकार ने सूत्र बना कर कहा। यदि एक पदार्थ को देखें और पहली बार देखते समय एक आंख विकृत हो, और दूसरी बार देखते समय दूसरी, तो एक आंख का देखा हुआ दूसरी आंख पहचानती है। प्रतीत यह होता है कि आंखों से भिन्न किसी और व्यक्ति ने एक आंख का देखा हुआ संभाल रक्खा था, वह अब दूसरी आंख द्वारा स्मरण किया। वही और व्यक्ति 'आत्मा' है।

फिर कहा है —

वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्यरूपे किमपि स्विदेकम् ।

ऋ० १, १६४, ६॥

अर्थः—जिसने छः (यम) भौतिक इन्द्रियों को अलग-अलग करके ठहरा रक्खा है, उस अजन्मा आत्मा के ज्ञान में, किसी इन्द्रिय का कोई ज्ञान हो, (अन्य इन्द्रियों द्वारा प्राप्त किये ज्ञान के साथ) एक हो जाता है।

इस मन्त्र में केवल विविध इन्द्रियों के प्रत्ययों का एकीकरण ही नहीं, किन्तु व्यक्तियों के बोध को क्रमबद्ध करने से जाति का ज्ञान Classification, प्रत्यक्ष Perception, अनुमान Inference, उपमान Comparison, शब्दादि प्रमाणों द्वारा प्राप्त सारा ज्ञान-कलाप किसकी विभूति है, यह रहस्य खोला गया है।

ये क्रियाएं स्वतः चलते यन्त्र की नहीं

ये सब लिंग जीते शरीर में होते हैं, मृत में नहीं। प्राण तथा निमेष को कपाटी (Valve) आदि के समान किसी भौतिक यन्त्र मात्र की क्रिया नहीं कहा जा सकता क्योंकि यान्त्रिक क्रिया का स्वयं यन्त्र निरोध नहीं कर सकता, परन्तु शरीर की इच्छा होने पर शरीर की उक्त क्रियाओं का निरोध हो सकता है। तभी तो 'प्राणत्' के साथ 'अप्राणत्' कहा, 'एजति' के साथ 'तिष्ठति' कहा। यही भाव दर्शनकार ने इन सब चिह्नों को 'आत्मा' के लिंग कहकर व्यक्त किया है। तात्पर्य्य यह कि इनका अस्तित्व आत्मा के विना संभव नहीं, परन्तु आत्मा इनके बिना भी रहता है। ये लिंग हैं—धर्म नहीं।

शरीर आदि आत्मा नहीं

वेद ने उपर्युक्त मन्त्र में आत्मा के ज्ञापक चिह्नों का वर्णन किया है। ये चिह्न केवल शरीर के नहीं हो सकते। इस ओर प्रश्न द्वारा संकेत तो किया ही था, परन्तु अब स्पष्ट कहते हैं —

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।

ऋ० १, १६४, १

इस सुन्दर वृद्ध हो जाने वाले दानादनशील शरीर का भर्ता* (अनादित्रयी में) मध्यम-स्थानीय भोग-धर्मा (आत्मा) है।

शरीर परिणामी है

शरीर दानादनशील है, अर्थात् इसके परमाणु प्रतिक्षण क्षीण होते और उनके स्थान में नए परमाणु आते रहते हैं। इसलिये यह कभी वाम सुन्दर है और कभी पलित वृद्ध। वैज्ञानिक लोग बताते हैं कि इस अणु-परिवर्तन के कारण मनुष्य का शरीर प्रत्येक ७ से १२ वर्ष के अन्दर सारे का सारा नया हो जाता है। जब मेरा शरीर इस जीवन में इतनी बार सम्पूर्ण बदल जाता है तो मैं एक कैसे हूँ? वेद कहता है, भोगधर्मा शरीर नहीं, कोई और शरीरी है।

मन आत्मा नहीं

आत्मा न शरीर है और न इन्द्रिय—यह ऊपर के प्रमाणों से स्पष्ट हो गया।

---

*भ्राता भरतेः। निरुक्त

मन की गणना भी इन्द्रियों ही में करनी चाहिये क्योंकि वह भी एक करण है। 'तत्संभूय भवत्येकमेव' ने मन को आत्मा न होने दिया क्योंकि मन अयुगपत् ज्ञान होने से प्रत्ययों की सम्भूति का आधार नहीं हो सकता।

आत्मा नित्य है

इस प्रकार आत्मा की पृथक् सत्ता सिद्ध हो गई। अब उसके कुछ गुणों का वर्णन किया जाएगा। आत्मा को दार्शनिकों ने सत् और चित् कहा है। अर्थात् वह नित्य और ज्ञानधर्मा है। आत्मा की नित्यता में श्रुति भगवती का कथन है :—

अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः। ता शश्वन्ता ॥ १ १६४. ३८.

अर्थात् अमरण-धर्मा (आत्मा) मरणधर्मा (शरीर) के साथ एकस्थानीय है, और वे दोनों (शरीर और आत्मा) नित्य हैं।

शरीर शाश्वत है पर मर्त्य। आत्मा शाश्वत भी है और अमर्त्य भी। इस विषय का अधिक विस्तार आगे करेंगे।

आत्मा अल्पज्ञ है

आत्मा का चित् होना ऊपर प्रमाणित हो चुका है। ज्ञानी है पर सर्वज्ञ नहीं। न इसका कोई विशेष ज्ञान अवश्य स्थायी है। इसी भाव को सामने रखकर वेद किसी जिज्ञासु के मुख से कहता है :—

अचिकित्वांश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन्पृच्छामि । ऋ० १-१६४-६ ।

अर्थ:—न जानता हुआ मैं जानने वालों से पूछता हूं। ज्ञान को आत्मा का लिंग कहने से भी यही अभिप्राय था। आत्मा में ज्ञान और अज्ञान इकट्ठे रहते हैं, अर्थात् किसी विषय का ज्ञान, किसी का अज्ञान।

अणु

आत्मा के सम्बन्ध में अब एक बात और रही, वह यह कि इसका परिमाण क्या है? वेद स्पष्ट कहता है :—

वालादेकमणीयस्कमुतैकं नैव दृश्यते । अ० १०. ८. २५.।

एक (आत्मा) बाल से भी सूक्ष्म अणु है। दूसरा (परमात्मा) मापा नहीं जा सकता अर्थात् विभु है।

विभु और मध्यम के दोष

परिमाण तीन प्रकार के माने जा सकते हैं:—विभु, मध्यम और अणु। विभु जो सर्वत्र में हो, मध्यम जो शरीर मात्र में व्यापक हो, अणु छोटे से छोटा। कौन सा शरीर किस 'आत्मा' का है, इसका निश्चय विभु होने की अवस्था में नहीं हो सकता, क्योंकि सब विभु सब शरीरों में होंगे। ऐसी अवस्था में सब आत्माओं का सब शरीरों से सम्बन्ध क्यों नहीं? सब मनों, सब इन्द्रियों से प्रत्येक विभु का संयोग होना चाहिए। विपक्षी कहता है, पूर्व जन्म के कर्मों के फल रूप में प्रत्येक विभु आत्मा, का शरीर विशेष से सम्बन्ध होता है, दूसरे शरीरों से उस का सम्बन्ध नहीं होता। इस अदृष्ट में विशेष को कारण कहते हैं, जिसकी कल्पना अणु पक्ष में नहीं करनी पड़ती। विभु पक्ष में कल्पना गौण है। इसलिए यह पक्ष त्याज्य है। मध्यम हो तो प्रत्येक शरीर के साथ इसका परिमाण बदलेगा अर्थात् जीव का अपना परिमाण कोई

न रहेगा। जिस शरीर में जाएगा, उसी का परिमाण इसका परिमाण बन जाएगा और जिस पदार्थ का परिमाण बदले वह विनाशी होता है। यह आपत्ति आयेगी। अणु होने में इन दोषों में से किसी की संभावना नहीं। अणु छोटे से छोटे शरीर में चला जाएगा और अपनी शक्तियों से दीप की नांई अपने से बड़े शरीर का द्योतन और अधिष्ठान करेगा।

सार

जीते शरीर में कुछ ऐसी चेष्टाएँ होती हैं जो जड़ शरीर लिंग नहीं कर सकते, जैसे सुख-दुःख की अनुभूति, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और ज्ञान। इन्हीं को न्याय दर्शनकार ने 'आत्मा' के लिंग कहा है। वैशेषिककार ने इनके अतिरिक्त प्राणापान, निमेषोन्मेष, गति, इन्द्रयान्तर्विकार (अर्थात् एक इन्द्रियपथ आंख के अनुभव से दूसरे इन्द्रिय यथा रसना में विकार होना, जैसे खट्टे पदार्थ के देखने मात्र से मुँह में पानी आना) ये भी आत्मा के लिंग कहे हैं। जब तक शरीर में आत्मा है तब तक ये लिंग रहते हैं, आत्मा न हो तो ये भी नहीं होते। अतः यह इस शरीर से भिन्न आत्मा के चिह्न हैं। इन्हीं लिंगों को वेद में अश्नः ऋ० १. १६४. १. सुख-दुःख भोक्ता, अपाङ् प्राङेति ऋ० १. १६४. ३८. किसी वस्तु की ओर जाता है (इच्छा), किसी से दूर (द्वेष), सन्नद्धो मनसा चरामि ऋ० १. १६४. ३७. प्रयत्नवान् होकर ज्ञान पूर्वक विचरता हूँ, प्राणत् अप्राणत् प्राण लेता है और नहीं लेता, निमिषत् आंख झपकाता है, एजति पतति तिष्ठति कांपता है, ठहरता है, विश्वरूपं संभूय भवत्येकमेव सारे इन्द्रिय-जन्य बोधों का एकीकरण कर एक बोधाधार है अ० १०. ८. ११ इन शब्दों में कहा गया है। इन लिंगों के समान चेष्टाएँ भौतिक पदार्थ में भी पाई जाती हैं। Airpump की कपाटी फेफड़े की भांति वायु को धकेलती रहती है। लोहा चुंबक की ओर वैसे ही खिचता है जैसे आत्मा अपने प्रिय की ओर, परन्तु इन क्रियाओं में आत्मा जैसी स्वतन्त्रता, स्वेच्छा, नहीं कि जब चाहा प्राण न लिया, जिसकी ओर आज खिचे, कल उस से दूर भी हट गए। इस प्रकार यह लिंग आत्मा की अभौतिक सत्ता को जताते हैं।

अपरिणामी

शरीर तो प्रत्येक ७वें से १२वें वर्ष के अन्दर सम्पूर्ण बदल जाता है। तो वह स्थिर व्यक्ति कौन है जो इस बदलते शरीर में अपरिणामी रहता है? वेद ने ऋ० १. १६४. १. में शरीरों को कभी वाम सुन्दर और कभी पलित वृद्ध कहा है, क्योंकि यह होता दानादनशील है। परमाणुओं को खींचता तथा निकालता रहता है। इसका भ्राता भरणकर्ता भोग-धर्मा आत्मा है।

अमर्त्य

आत्मा के गुण हैं सत् और चित् अर्थात् नित्यता और ज्ञान। वेद ऋ० १. १६४. ३८. में शरीर और आत्मा को शश्वन्ता नित्य कहता है परन्तु फिर वहीं अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः कह कर स्पष्ट कर दिया है कि शरीर (प्रकृतिरूप में) नित्य है पर मर्त्य—मरणधर्मा है, परन्तु 'आत्मा' नित्य भी है और अमर्त्य भी।

अल्पज्ञ

आत्मा का धर्म ज्ञान है परन्तु वह ज्ञान शक्ति मात्र है। किसी विशेष विषय

का ज्ञान प्रयत्न से आता है अचिकित्वांश्चिकितुषः............पृच्छामि ऋ० १. १६४. ६. 'मैं अज्ञानी ज्ञानियों से पूछता हूं।' यही जीव की अल्पज्ञता है।

अणु

जीव का परिमाण वेद कहता है :—बालादेकमणीयस्कं अ० १०. ८. २५. एक बाल से भी सूक्ष्म है। विभु हो तो किस शरीर का कौन आत्मा है, इसका निश्चय न होगा। एक शरीर से एक ही आत्मा का सम्बन्ध क्यों हो, इसके लिए नियामक कारण नहीं होगा, क्योंकि सब विभु सब शरीरों में होंगे। मध्यम हो तो प्रत्येक शरीर के साथ इसका परिमाण बदलेगा और परिमाण बदलने वाला विनाशी होता है। इस से अनित्यता का दोष आएगा। इसलिए 'आत्मा' का अणु होना ही युक्तियुक्त है।

२—परमात्मा

विश्वात्मा

आत्मा और परमात्मा का विचार आपस में इतना मिला हुआ है कि शास्त्रों में प्रायः इन दोनों की विवेचना साथ-साथ की गई है। कई स्थलों पर यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि यहां आत्मा का वर्णन है या परमात्मा का? प्रसिद्ध लोकोक्ति है :—यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे। जैसे शरीर में चेतना देखकर उसमें किसी आत्मसत्ता का विचार उठता है, वैसे ही ब्रह्माण्ड में किसी नियामक व्यवस्थापक शक्ति का भान पाकर परमात्मा की सत्ता का अनुमान होता है।

परमात्मा जीव नहीं

विश्व का आत्मा (परमात्मा) इन शरीरियों में से एक नहीं हो सकता, क्योंकि शरीरी बहुत हैं और इन की शक्ति सीमावद्ध है। यह न तो सारे जगत् में व्यापक है, न इनका ज्ञान ही पूरा है। न यह वारी-वारी से शासन कर सकते हैं, और न समूह रूप से शासक हो सकते हैं। ब्रह्माण्ड की व्यवस्था स्थिर है, वह व्यवस्थापक की स्थिरता चाहती है। यदि मुक्तों का शासन माना जाए तो यह बढ़ते घटते रहते हैं। बन्धनावस्था से मुक्तावस्था में भोग का परिवर्तन तो होता है क्योंकि

वहाँ आनन्द ही आनन्द मिलता है, परन्तु स्वरूप नहीं बदलता कि अल्प शक्ति सर्व-शक्ति हो जाय । इसलिये आत्मा किसी अवस्था में परमात्मा नहीं हो सकता । वेद ने आत्मा के विषय में कहा है—

अवः परेण पर एना वरेण । ऋ० १, १६४, १७-१८

जीव से सूक्ष्म

अर्थ—इस अवर (प्रतीयमान् जगत्) से बड़ा है उस बड़े (परमात्मा) से छोटा है । पर सूक्ष्म को भी कहते हैं (जो प्रतीति में परे हो) प्रमाण के लिए उपनिषद् का यह मन्त्र देखो—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥ उपनिषद्

ऋषि दयानन्द का यह कथन कि परमात्मा आत्मा से और आत्मा प्रकृति से अधिक सूक्ष्म हैं, इसी वैदिक विचार पर आश्रित है ।

परमात्मा सिद्धि : जगत् का प्रवर्तक Cosmological Argument

परमात्मा की सिद्धि की जो युक्तियां आधुनिक तथा पुरातन तर्क में प्रयोग में लाई गई हैं उनका बीज वेद में है । संसार को देखकर पहला प्रश्न यह होता है कि इसका विकास कैसे होता है ? विकास में नियम है, निश्चय है । सम्पूर्ण जगत् की प्रवृत्ति बुद्धिपूर्वक हुई प्रतीत होती है । इस विषय का विशेष विचार 'उत्पत्ति' प्रकरण में करेंगे । यह बुद्धि प्रकृति की नहीं, और जैसे हम ऊपर कह चुके हैं, किसी आत्मा या आत्मसमूह की भी नहीं । विभु आत्मा परमात्मा की ही है ॥

पादोऽस्येहाभवत् । ततो विश्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि । यजु० ३१. ४.

उस चतुष्पाद् पुरुष का एकपाद (बहिः प्रज्ञ) इस संसार में प्रकट हुआ । उससे चेतन अचेतन सारा जगत् प्रवृत्त हुआ ।

आर्य धर्म परमात्मा को जगत् का निमित्त कारण मानता है, उपादान नहीं । उपादान मानने से चेतन से अचेतन और अचेतन से विकसित होने की समस्या का कोई सुलझाव नहीं हो सकता । इस अंश में हमारी प्रवृत्ति की युक्ति पश्चिमीय युक्ति से, जो क्रिश्चियन मत पर आश्रित है, भिन्न है । पाश्चात्य तर्क यहां ठहर जाता है । हमारी यही युक्ति आगे चलती है ।

धारक

प्रवृत्ति के पश्चात् धृति का प्रश्न है । संसार के विविध पदार्थ एक दूसरे की आकर्षण आदि शक्तियों से स्थिर हैं । परन्तु यह आकर्षण भी तो बुद्धि-पूर्वक कार्य कर रहा है । सूर्य ने पृथ्वी को और पृथ्वी ने सूर्य को आकर्षण करना किसी की नियामकता से स्वीकार किया है । इनमें यह धर्म कैसे आया ? इस धर्म का संकेत ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी की ओर है । वेद कहता है—

स्कंभेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः । स्कंभ इदं सर्वमात्मन्वद्यत्प्राण-न्निमिषच्च यत् ॥ अ० १०. ८. २.

अर्थ—धारणकर्ता परमात्मा में आकाश और पृथ्वी (सूक्ष्मतम भूत आकाश और स्थूलतम भूत पृथ्वी का नामनिर्देश कर सारे भूतों की ओर संकेत है) अलग-अलग थमे हुए खड़े हैं। उसी धारण कर्ता में प्राण लेने और आँख झपकाने वाला आत्मवान् जगत् है। अर्थात् चेतन अचेतन का आधार प्रभु है।

निवर्त्तक

जहां प्रवृत्ति है धृति है, वहां निवृत्ति भी है। प्रत्येक पदार्थ अपने मूल से परिणाम पाकर कार्य रूप धारण करता है और उससे पीछे फिर उसी कारण में लीन हो जाता है। जैसे पानी से बादल और बादल से फिर पानी बनता है। यह चक्र जैसे अलग-अलग पिंडों में देखने में आता है, ऐसे ही ब्रह्माण्ड की मर्यादा में भी दृष्टिगोचर होता है। कम से कम इसका अनुमान इसी प्रकार हो सकता है। यह क्षय या निवृत्ति भी उसी व्यापक बुद्धि के अधीन है।

कालेनोदेति सूर्यः काले निविशते पुनः। अ० १९. ५४. १

अर्थ—संख्या कर्ता परमात्मा से सृष्टिकाल में सूर्य उत्पन्न होता है और प्रलय-काल में उसी में लीन हो जाता है।

प्रवृत्ति और निवृति दो विरोधी धर्म हैं। इनका समय और मर्यादा-पूर्वक-व्यवहार में आना जड़ प्रकृति द्वारा असम्भव है। प्रकृति का स्वतन्त्र धर्म या प्रवृत्ति ही हो सकता है या निवृत्ति। संसार स्वतन्त्र हो तो उस की गति यान्त्रिक (Mechanical) होनी चाहिए, अर्थात् वह बनता जाए या बिगड़ता। या सृष्टि ही सृष्टि होती जाए या प्रलय ही प्रलय हो। सृष्टि होते-होते प्रलय और प्रलय होते-होते सृष्टि की प्रवृत्ति कौन करता है? कोई नियामक शक्ति ही। वह नियामक चेतन होना चाहिये और उसकी चेतनता का प्रभाव विश्वव्याप होना आवश्यक है।

वेदान्तदर्शन में उपरिलिखित सारे प्रकरण को एक सूत्र में कहा है—**जन्माद्यस्य यतः** १. १. २. अर्थात् ब्रह्म वह है जिससे इस (जगत्) का जन्म, धारण, और विनाश होता है।

अंग्रेजी में इस युक्ति को (Cosmological Argument) कहते हैं। परन्तु पाश्चात्य तर्क में सृष्टि और प्रलय की चक्रपरम्परा का विचार न होने से इस युक्ति का अभिप्राय केवल प्रवृत्ति की युक्ति रहता है।

रचयिता Teleological Argument

दूसरी युक्ति रचना या (design) की है। इसे अंग्रेजी भाषा में Teleological Argument कहते हैं। बुद्धि पूर्वक धृति का वर्णन करते हुए हम इस युक्ति की ओर संकेत कर चुके हैं, परन्तु तार्किकों की परिभाषा को दृष्टि में रखते हुए इस युक्ति पर संक्षेप से अलग विचार कर लेने में हानि नहीं।

प्रत्येक विज्ञान (Science) बताता है कि संसार की स्थिति नियमों पर है। इन्हीं नियमों का संग्रह-भूत ही तो विज्ञान है। इन्हीं नियमों के आश्रय से सब कलाओं, सब धन्धों का व्यवहार चलता है। यदि कृषक बीज के पृथ्वी में डाले जाने के पीछे उसके विशेष सिंचन आदि संस्कारों के अनन्तर उसके फल-स्वरूप में परिणत

होने में सन्देहवान् हों तो कृषिकला में प्रवृत्त ही न हो। यही नियम Science of Agriculture कृषि विज्ञान कहलाते हैं। यही अवस्था और विज्ञानों की है। विज्ञान नाम है नियमों का। ब्रह्माण्ड में भौतिक पदार्थों से और फिर सारा भौतिक प्रपञ्च प्राणि-जगत् से एक सूत्र से बंधा हुआ है। सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो प्रत्येक क्षेत्र की रचना निराली प्रतीत होती है। कैसा कौतुक है कि इन सब रचनाओं की फिर एक व्यापक रचना है। जगत के अंग-अंग की और फिर इस सम्पूर्ण अंगी की ध्वनि है संगठन। यह संगठन यह रचना सर्वज्ञ रचयिता के बिना और किस की हो सकती है?

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् सो विद्यात् ब्राह्मणं महत्॥ अ० १०.८.३८

अर्थः—जो उस अलग-अलग प्रत्येक विज्ञान के क्षेत्र में फैले हुए सूत्र को जानता है और फिर उस सूत्र के सूत्र (व्यापक रचना) को जानता है वह परमब्रह्म को जानता है।

विज्ञानों और शास्त्रों का अपना-अपना (Synthesis) संश्लेष है। इन सब संश्लेषों (Synthesis) का एक परम संश्लेष (Highest Synthesis) है। इसे ब्रह्म-विद्या कहते हैं। इसी संश्लेष का वर्णन उपनिषदों ने इन मनमोही शब्दों में किया है कि इसके जानने से सब कुछ जाना जाता है। विज्ञान को हेय नहीं बताया किन्तु उसका ध्येय (ideal) और उत्कृष्ट कर दिया है। विज्ञान का परम संश्लेष (Highest Synthesis) और वेद का सूत्रस्य सूत्र एक है।

वेदान्त दर्शन के दूसरे अध्याय के दूसरे पाठ में इस विषय की अच्छी विवेचना की गई है। विस्तार के लिये वहां देखें।

कर्म बल संयोजक Moral Argument

तर्क की अन्तिम युक्ति धर्म की या आचार की युक्ति है। इसे अंग्रेजी में Moral Argument कहते हैं। आचार का आधार परमात्म-विश्वास है। योगी फल की आकांक्षा से ऊंचा हो जाता है परन्तु यदि कृति का फल ही न हो तो कोई कर्म करने के लिए प्रेरणा किस भाव से पाए? भलाई का फल स्वयं भलाई ही सही, सदाचार का लाभ केवल आत्मोन्नति ही हो, तो भी इस फल का सफलीकर्त्ता चाहिये।

वेद कहता है:—

सविता सत्यधर्मा अ० १०,८,४२

अर्थात् प्रेरक प्रभु का धर्म अटल है; उसने सत्य (Righteousness) को धर्म बनाया है।

सत्य धर्म है, कार्य इस प्रकार होना चाहिए। ऐसा करना कर्त्तव्य है, इसकी प्रथम प्रेरणा कहां से हुई? वरुण देवता के सब सूक्त परमात्मा के इसी गुण का प्रतिपादन करते हैं।

आर्य तर्क की विशेषता यह है कि इसने आध्यात्मिक (Metaphysical) और आधिभौतिक (Physical) नियमों को एक ही लड़ी में पिरो दिया है। वही व्यवस्था जो पृथ्वी में डाले हुए बीज को समय आने पर फल बनाती है, किये हुए कर्म को समय आने पर परिपाक भी देती है।

भगवद् गीता में कहते हैं:—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।

यहां किया हुआ नष्ट नहीं होता। परिपाक का प्रतिवन्धक कोई नियम या कारण नहीं।

इसी कारण से बादरायण मुनि ने वेदान्त में रचना और आचार की युक्ति (Teleological और Moral Argument) को एक साथ एक ही सूत्र में शास्त्रयोनित्वात् कहकर बड़ी सुन्दरता से ग्रथित किया है। हमारी परिभाषा में शास्त्र सत्य प्रतिपादित करने वाली किसी भी व्यवस्था को कहते हैं। भौतिक विज्ञान भी शास्त्र है और आध्यात्मिक विज्ञान भी। बादरायण के सूत्र का अभिप्राय यह है कि जहां इन शास्त्रों के नियमों को संसार की रचना में व्यवहार-रूप में क्रियात्मक भाव देने वाला परमात्मा है, वहां इन नियमों का प्रथम ज्ञान भी प्रभु स्वयं देते हैं। वेदान्त शास्त्र की यह नई युक्ति है जो पाश्चात्यों को नहीं सूझी। इसका विचार हम 'ज्ञान का आरम्भ' नाम के प्रकरण में करेंगे।

पूर्णसत् Ontological Argument

इन सब युक्तियों के अतिरिक्त एक युक्ति विशेष एनसल्म ने दी थी। उसका खंडन कांट ने Ontological Argument कहकर किया था। उस युक्ति का अभिप्राय यह है कि महतो महान् का भाव मनुष्यों में है और इसका निराकरण नहीं हो सकता, इसलिये परमात्मा है। Anselm ने अपनी युक्ति को अशुद्ध रूप दिया। डेकार्ट आदि तार्किकों का नाम भी इस युक्ति के साथ संयुक्त है। अपूर्ण जीव पूर्ण की भावना करता है। यह भावना किसी काल्पनिक भ्रमात्मक भावना से भिन्न है। भ्रमात्मक भावनाओं का आधार हमारे सत्य प्रत्यय हैं। उन प्रत्ययों को विविध रूपों में संश्लिष्ट कर हम अपने भ्रमों की सृष्टि करते हैं। भूत प्रेत आदि का हमने प्रत्यक्ष नहीं किया परन्तु जिन अंगों की कल्पना हम उन भूत प्रेतों में करते हैं, यथा हाथ, पांव, दांत मुख इत्यादि वे हमारे ज्ञान में विद्यमान हैं। उन अंगों का एक अद्भुत मिश्रण हमारा भूतादि का भ्रम होता है। इसके विपरीत पूर्णता को हमने कभी नहीं देखा। तो भी उसकी ओर जाने का प्रयत्न है। दोष हटाने, न्यूनताएं मिटाने का यत्न किसी पारमार्थिक पूर्ण सत्ता की ओर संकेत करता है। हमारी सत्ता (Being) का विचार पूरा नहीं होता जब तक किसी पूर्ण सत् (Perfect Being) की भावना मात्र का ही उसमें समावेश न हो। हमारी अपूर्णता उस पूर्ण को घेर नहीं सकती, इस अंश में वह अज्ञेय है। परन्तु हमारी अपूर्णता भी तो ऊन रह जाती है, असत् हो जाती है, जब तक कि उस से भिन्न कोई पूर्ण न हो। सत्ता, ज्ञान, साफल्य, सब दृष्टियों से वह पूर्ण पूर्ण हो। पहले पूर्ण हो। उस में नञ् समास होकर अपूर्ण बने। वेद कहता है:—

न कुतश्चनोनः अ० १०, ८, ४४

वह किसी बात में ऊन नहीं।

दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते। अ० १०, ८, १५

परमात्मा परिपक्व जीव से दूर (उत्कृष्ट) है और अपरिपक्व तो उस की ओर जाता ही नहीं।

यहां यह भी सिद्ध हो गया कि परमात्मा मुक्त जीवों से भिन्न है।

अन्तः प्रत्यक्ष Intuitional Argument

यहां तर्क की समाप्ति है अंतिम युक्ति (Intuition) अन्तः प्रत्यक्ष की हैं। वेद कहता है:—

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहायत् । अ० २, १, १

अर्थः—योगी उसे देखता है जो हृदय-देश में छिपा है। फिर कहा है:—

अन्तरिच्छन्ति तं जने रुद्रं परो मनीषया
गृभ्णान्ति जिह्वा ससम् ऋ० ८, ७२, ३

अन्तः प्रत्यक्ष की शक्ति पर हमारे शास्त्रों ने बहुत बल दिया है। प्रत्येक विज्ञान की पूर्ण सिद्धि इसी प्रमाण से मानी है। आज फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक हेनरी बर्गसन भी अन्तः प्रत्यक्ष को Intuition नाम देकर इसी की साक्षी को चरम साक्षी मान रहे हैं।

परमात्मा का स्वरूप, ज्ञान

परमात्मा के गुणों का वर्णन आर्यसमाज के दूसरे नियम में किया गया है। वह सब वेद के आधार पर है, जैसा कि हम अभी दर्शायेंगे। परमात्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है, सत् प्रकृति भी है, सत् चित् आत्मा भी। परमात्मा आत्मा के ज्ञान में यह भेद है कि परमात्मा ज्ञान स्वरूप है। वेद कहता है:—

सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात् ।
संख्याता अस्य निमिषो जनानामक्षानिव श्वघ्नी निमिनोति तानि अ० ४. १६. ५.

पृथिवी और आकाश के बीच अर्थात् भौतिक जगत् में और उसके बाहर जो कुछ होता है वह सब राजा वरुण जानता है। यही नहीं, उसके तो प्राणी प्राणी के निमेष उन्मेष तक गिने हुए हैं। आत्म हत्यारे इन निमेषों को जुए का दाव बनाते हैं।

आनन्द स्वरूप

वेद ने परमात्मा को पूर्ण कहा है। मानुषीय पूर्णता से पूर्णतर—ऐसा पूर्ण जिसकी ओर यह पूर्णताएं दौड़ती हैं और सदैव दौड़ती चली जाएंगी। ऊनता दुःख है, पूर्णता सुख है। वेद के शब्दों में:—

स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः । अ०

जिसका आनन्द (स्वः) केवल है अर्थात् उस में किसी अन्य विरोधी भाव का लेशमात्र भी नहीं, उस महतो महान् परब्रह्म को नमस्कार है।

अभोक्ता

दुःख भोग में है। अकेवल सुख और केवल तथा अकेवल दुःख भोग कहलाते हैं। परमात्मा अभोक्ता है। वह सुख दुःख से ऊंचा है।

अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति । ऋ १. १६८. २०

अर्थः—एक (परमात्मा) अभोक्ता होकर साक्षी है। आत्मा का सुख लिंग है। परमात्मा का धर्म, स्वरूप। स्वरूप नित्य है, लिंग अनित्य।

निराकारादि

इसी पूर्णता के भाव में निराकार, सर्वशक्तिमान्, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, अजर, अमर, अभय, नित्य पवित्र, इन सब भावों का समावेश है। वेद में इन भावों का अलग-अलग वर्णन भी आया है, यथाः—

निराकार—अकायमव्रणम्। य० ४०. ४
सर्वशक्तिमान्—शुक्रम्। ४०, ४
अजन्मा—अजस्तद्‌दृशे क्व अ० १०, ८, ४
श्रृणोत्वजः। य० ३४, ५३
अनन्त—अनन्तं विततं पुरुत्र। अ० १०, ८, १२
निर्विकार—अज एकपात्। य० ३४, ५३
अनादि—सनातनम्। अ० १०, ८, २२
अनुपम—अपूर्वेणोपिता वाचः। अ० १०, ८, २३
न तस्य प्रतिमा अस्ति। य० ३२, ३
सर्वाधार—सो दृंहयत सो धारयत। अ० ४, ११, ७
सर्व-व्यापक—उरूकोशो वसुधानस्तवायं यस्मिन्निमा भुवनान्यन्तः अ० ११, २, १२
सर्वज्ञ—वेद भुवनानि विश्वा। य० ३२, १०
अजर अमर

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥ अ० १०, ८, ४४

अभय—अभयंकर। अ० १०, २१, १
नित्य—एकपात्। ३४, ५३
पवित्र—पवमानः। अ० १०, ८, ४०
न्यायकारी—सोऽर्यमा अ० १३, ४, ४
दयालु—दयसे विजानन्। य० ३३, १८,
सर्वेश्वर—सर्वस्येश्वरः अ०। १०, ४, १,
सृष्टिकर्त्ता—य इदं विश्वं भुवनं जजान। अ० १३, ३, १५
सर्वान्तर्यामी—स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु। य० ३२, ८

हमने केवल संकेत दे दिये हैं। पाठक इन गुणों का विस्तार स्वयं कर लें।

एक मात्र उपास्य

आर्यसमाज का दूसरा नियम परमात्मा के इस स्वरूप का वर्णन कर रहा है कि उसी की उपासना करनी योग्य है। वह वेद के इस वाक्य का अनुवाद मात्र हैः—
दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः। अ० २, २, १

प्रकाश स्वरूप, ज्ञान और ज्ञेय का धर्ता (आदि मूल) संसार का एक मात्र पति ही नमस्कार के योग्य है। उसकी स्तुति प्रजाओं में करो।

पूर्ण एक ही हो सकता है, अनेक नहीं।

सार

संसार को समष्टि शरीर समझ लें तो उसमें एक व्यापक आत्मा की सत्ता प्रतीत होती है। जीवों की शक्ति परिमित है। उनमें से न कोई अकेला सारे विश्व

का आत्मा हो सकता है और न यह सब मिलकर । परिमित मिलकर भी परिमित ही रहेंगे। वेद ने आत्मा को कहा है **अवःपरेण** ऋ० १, १६४. १७-१८ कि यह परमात्मा से निकृष्ट है। दूसरा अर्थ 'पर' का है सूक्ष्म। अर्थात् परमात्मा जीव से भी सूक्ष्म है।

परमात्मा की सिद्धि के लिये निम्नलिखित युक्तियां तार्किक-लोग देते हैं:—
(१) प्रवृत्ति की युक्ति Cosmological Argument। इस युक्ति का सार यह है कि जगत् की प्रवृत्ति किसी चेतन से हुई है, क्योंकि इसके विकास में बुद्धि-द्योतक नियम काम करते हैं। वेद कहता है :—

ततो विश्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि। यजु० ३१. ४

उस परम पुरुष से विश्व की प्रवृत्ति हुई, जड़ चेतन दोनों की।

वैदिक-धर्मी इस प्रवृत्ति के साथ धृति और निवृत्ति भी मिला देते हैं। संसार थमा काहे पर है ? पदार्थों के पारस्परिक आकर्षण पर। वह आकर्षण स्थिर क्यों है ? कौन है जो दो पदार्थों को आपस में आकर्षक भी बनाता है और आकृष्य भी ? यह पारस्परिक अनुकूलता धारक का द्योतन करती है। वेद कहता है :—

स्कंभेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः।
स्कंभ इदं यदात्मन्वद् यत्प्राणन्निमिषञ्च यत् ॥ अ०.६. ११ ४५

धारण के पीछे निवृत्ति है। वेद कहता है :—

काले निविशते पुनः। अ० ११. ५४. ५

संख्याकर्ता परमात्मा में सबका लय होता है।

इन तीनों भावों, प्रवृत्ति, धृति और निवृत्ति का नियामक परमात्मा है। यदि यह केवल यान्त्रिक क्रियाएं हों तो निवृत्ति से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से निवृत्ति न हो सके। प्रकृति का स्वभाव तो या निवृत्ति होगा या प्रवृत्ति। उसको समय पर वदल देने वाला चेतन प्रभु है।

(२) रचना की युक्ति (Teleological Argument) इस युक्ति का आधार विज्ञान है। विज्ञान संसार के विविध-विविध अंगों में नियमों का आविष्कार करता है। इसी को रचना या Design कहते हैं। अंग-प्रत्यंग फिर आपस में आन्तरिक नियमों से मिले हैं। यथा वनस्पति-शास्त्र वनस्पति जगत् में नियमों की सिद्धि करता हैं और पशुशास्त्र Zoology पशु-जगत् में। फिर वनस्पति शास्त्र का पशु शास्त्र से सम्बन्ध है क्योंकि पशु और वनस्पति एक अटूट रस्सी से आपस में बंधे हुए हैं। इस प्रकार सब विज्ञानों के ऊपर एक व्यापक विज्ञान है। उसे **ब्रह्म विद्या** कहते हैं। वेद में इसी परम संश्लेष (highest synthesis) को सूत्रस्य सूत्रम् अ० १०, ८, ३८ कहा है।

सूत्रस्य सूत्रं यो विद्यात् सो विद्यात् ब्राह्मणं महत।

प्रत्येक विज्ञान के आधार-भूत नियमों का रचयिता भी प्रभु है, और उस विज्ञान का प्रथम बोध भी प्रभु देता है।

(३) धर्म युक्ति Moral Argument। सदाचार का आधार परमात्मा की सत्ता का विश्वास है। सदाचार परमात्मा की प्रेरणा है। उसका फल भौतिक हो

अथवा अभौतिक या निष्कामता ही, उस फल का प्रेरक सत्य धर्मा सविता। अ० १०८, ४२ है।

आर्य विचार भौतिक नियमों तथा आचार-सम्बन्धी नियमों दोनों के सूत्रीकरण (systematisation) को शास्त्र नाम देता है। इस शास्त्र का प्रथम प्रादुर्भाव 'वेद' के रूप में होता है। आत्मा की ध्वनि conscience परमात्मा की प्रथम प्रेरणा है। धर्म-मर्यादा आरम्भ में उसी प्रभु की स्थापित की हुई है।

(४) पूर्ण की संभावना की युक्ति Ontological Argument। हम अपूर्ण हैं और पूर्णता चाहते हैं। यह पूर्णता का विचार बिना पूर्ण सत् के नहीं हो सकता। यदि हमारी भावना भ्रम मात्र भी हो तो उसका मूल सत्य प्रत्यय होना चाहिए, क्यों कि भ्रम मात्र भी सत्य का अपभ्रंश होता है। जिस आदर्श की ओर हम दौड़ते हैं और जिसके अंश मात्र का अपने उत्कर्ष में अनुभव करते हैं वह आदर्श सत् है। वही परमात्मा है।

दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते। अ० १२.८.१५

अर्थात् मुक्त जीव परमात्मा नहीं होते। अमुक्त उसकी ओर आते ही नहीं।

(५) अन्तःप्रत्यक्ष की युक्ति (Intuitional Argument)। इस युक्ति का दूसरा नाम है योगी का प्रत्यक्ष।

अन्तरिच्छन्ति तं जने। ऋ० ८. ७२. ३

अर्थ:—उसे जन के अन्दर ढूँढते हैं।

वेनस्तत्पश्यत्। अ० २. १. १

अर्थ:—योगी उसे देखता है।

आज तत्ववेत्ता हेनरी बर्गसन भी इसी प्रत्यक्ष को परम प्रमाण मानते हैं।

परमात्मा का स्वरूप

१. परमात्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानलिंगी नहीं। अत: सर्वज्ञ है,।

सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे। अथर्व० ४. १६. ५

२. परमात्मा आनन्दस्वरूप है। पूर्ण को क्लेश कैसा ?

स्वर्यस्य च केवलम्

अर्थ:—जिसका सुख बेलाग है।

३. दु:ख केवल सुख में है अर्थात् भोग में। परमात्मा

अनश्नन्यो अभिचाकशीति॥

न भोगता हुआ साक्षी है।

४. आर्यसमाज का दूसरा नियम—ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है।

५. परमात्मा एक है। पूर्ण अनेक नहीं हो सकते

यस्पतिरेक एव। अ० २. २. १

वह पति एक ही है।

६. उपास्य है :—

नमस्यो विक्ष्वीड्यः। अ० २. २. १

नमस्कार करने तथा प्रजाओं में प्रशंसा करने योग्य है।

३—सृष्टि की उत्पत्ति

विज्ञान हमारे साथ है

परमात्मा की सिद्धि में प्रवृत्ति की युक्ति (Cosmological Argument) का उल्लेख करते हुए हमने अपने पाश्चात्य विचारकों के साथ इस अंश में मतभेद प्रकट किया था कि हम परमात्मा को जगत् का निमित्त कारण मात्र ही मानते हैं, उपादान नहीं। हमारा अभिप्राय इस कथन से यह न था कि सारा पाश्चात्य जगत् इस विषय में हमारे प्रतिकूल सम्मति रखता है। विज्ञान का पक्ष हमारे साथ है। अभाव से भाव की उत्पत्ति कोई वैज्ञानिक स्वीकार नहीं करता। प्रकृति (Matter) अनादि है, आज इस विषय में आपत्ति उठाना अपने आपको विज्ञान का विरोधी **'उत त्वः पश्यन्नददर्श'** इस उपहास का निशाना बनाना है।

आर्य तर्क में तीन अनादि स्वीकार किये गए हैं। परमात्मा के अनादि होने में किसी परमात्मावादी को आपत्ति नहीं।

जीव अनादि

शेष रहे जीव और प्रकृति। विकासवादी जीते शरीर का सरल से सरल रूप (protoplasm) कललरस को ठहराते हैं। समझते हैं कि इन कललरसों की वृद्धि से संकीर्ण शरीरों का विकास होता है। परन्तु उन के सामने यह समस्या अनिवार्य बनी रहती है कि जीवन का प्रादुर्भाव अजीवन से कैसे हुआ? जड़ पदार्थ में चेतनता कहां से आई? जीव की अलग सत्ता मानने से ही इस गुत्थी का सुलझाव हो सकता है। ऐसे ही जो आदिम कारण केवल आत्मिक सत्ता को मानते हैं, उनके पास प्रश्न का कोई उत्तर नहीं कि आत्मा अनात्मा कैसे हो जाता है? जैसे जड़ से चेतनता का

विकास असम्भव है, ऐसे ही चेतन से जड़ का विकास अयुक्ति-युक्ति है। आत्म तत्त्व के अतिरिक्त अनात्म-तत्त्व का अस्तित्व मानना एक अनिवार्य वैज्ञानिक आवश्यकता है।

प्रकृति भी

कोई कोई कहते हैं, परमात्मा ही प्रकृति और आत्मा को बनाता है। काहे से ? अभाव से तो नहीं। तब अपने से बनाता होगा। चेतन (प्रभु) से अचेतन (जगत्) के प्रादुर्भाव की कल्पना इस धारणा को भी अयुक्त बना देती है। रहा जीव, वह पाप की समस्या उपस्थित करता है। परमात्मा मात्र को अनादि मानने से इस शंका का किसी प्रकार समाधान नहीं हो सकता कि पाप की प्रवृत्ति किस से होती है ? जीव अपने कर्मों का स्वतन्त्र कर्त्ता है तो उसकी स्वतन्त्रता किसी दानी का दान नहीं होनी चाहिये। किसी राजनीतिज्ञ से ही पूछ लो—दान में पाई स्वतन्त्रता परतन्त्रता है। स्वतन्त्रता तो स्वभावसिद्ध ही हो सकती है। केवल परमात्मा के अनादि होने की अवस्था में पाप का मूल बीज परमात्मा ही रहेगा, और यह किसी सचेत धर्मवादी को अभीष्ट नहीं हो सकता।

त्रित्ववाद

अनादि तो तीन ही मानने पड़ते हैं। आत्मा को अनादि मानने से विकासवादियों की यह समस्या झट सुलझ जाती है कि जीवन कहां से आता है ? प्रकृति को अनादि मानने से धर्म का विज्ञान से अज्ञान और अज्ञान से पैदा हुआ विरोध मिट जाता है। अर्थात् यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा अनात्मा में परिणत नहीं होता। परमात्मा को अनादि मानने से जगत् की स्थिर, अनादि, अनन्त व्यवस्था का रहस्य खुल जाता है।

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक वेद के अनेक मन्त्र उपर्युक्त प्रकरणों में उद्धृत किये गये हैं कि परमात्मा, आत्मा, और भौतिक जगत्, यह तीन भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, यथा:—

स्कंभेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः। स्कंभं इदं
समात्मर्वन्वद् यत्प्राणन्निमिषच्च यत्। अ० १०, ८, २

धारण कर्ता (परमात्मा) में यह आकाश (सूक्ष्मतम भूत) से पृथिवी (स्थूलतम भूत) तक भौतिक प्रपंच स्थिर है। उसी परमात्मा में यह सब आत्मवान् जो सांस लेते और आंख झपकाते हैं, स्थिर हैं।

तीन कारण

यह तीनों अनादि, सृष्टि होने में कारण बनते हैं : (१) परमात्मा का नियन्त्रण रहता है, जैसे कुम्हार का घड़ा बनाने में, या जीव का शरीर से नख, केश आदि की उत्पत्ति में। (२) जीवों को अपने कर्मों के फल पाने होते हैं। उस फल-भोग की उपयुक्त सामग्री, चाहे मानसिक हो या भौतिक, प्राकृतिक प्रपंच से उपलब्ध होती है। प्रकृति के इसी धर्म को पुरुषार्थ कहते हैं और (३) प्रकृति इस प्रपंच का उपादान कारण है, जैसे घड़े का मिट्टी, या नखों और बालों का शरीर।

यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधिविश्वे।
तस्येदमाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोनशद्यः पिररं न वेद। ऋ० ११६४.२२

अर्थ:—जिस दृश्चनस्वभाव (जगत्) में अच्छी कर्म-शक्ति वाले फल भोगी जीव रहते और बढ़ते हैं। उसका यही (बसेरा लेना और बढ़ना) भोग्य फल है।...

सुदुघा पृश्निः मरुद्भ्यः । ऋ० ५. ६०. ५

अर्थ— प्रकृति प्राणियों के लिये सम्यक् फल देने और सम्यक् जीवन-निर्वाह कराने वाली है।

सृष्टि का प्रकार

अब रहा सृष्टि का प्रकार। सांख्यकार प्रकृति को गुणों का साम्य मानते हैं। साम्य का अर्थ है अप्रतर्क्य अवस्था। वेद में आया है—

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् अ० १०. ८. ४३.

अर्थ—नौ दरवाजों वाला पुण्डरीक (शरीर) तीन गुणों से घिरा हुआ है।

यह तीन गुण क्या हैं? आत्मा स्वभाव से गुणातीत है। उसमें जो तारतम्य आता है, वह प्रकृति के संग से है। प्रकृति के गुणों का विश्लेषण हम आत्मा की अवस्थाओं से कर सकते हैं। आत्मा की उत्तम अवस्था **'स्थितधी'** की है। वह शुद्ध सात्त्विक अवस्था है। मध्यमावस्था चंचलता तथा सचिन्त पुरुषार्थ की है। वह राजसिक है। निकृष्ट अवस्था आलस्य की है। वह तामस है। प्रकृति के प्रपंच में जो पदार्थ सात्त्विक स्वभाव पैदा करते हैं, वह सत्त्व प्रधान हैं। जो राजस प्रवृत्ति लाते हैं, वह रजःप्रधान हैं इत्यादि।

प्रलयावस्था में तीनों गुणों की विद्यमानता होती है और किसी का विशेष आविर्भाव नहीं होता। इसे साम्य कहते हैं। वेद में प्रलयावस्था की प्रकृति के स्वरूप को यों दर्शाया है—

नासदासीन्नोसदासीत्तदानीम् । ऋ० १०. १२९. १

उस समय सत् न था, असत् था।

योगसूत्र २.१९ का भाष्य करते हुए व्यास लिखते हैं—

निस्सत्ता सत्त्वं निःसदसत् निरसत अव्यक्तं अलिंगं प्रधानम् ।

प्रधान को असत् इसलिये नहीं कहते कि उसका अभाव नहीं। सत् इसलिये नहीं कहते कि उसका लिंग (ज्ञापक चिह्न) नहीं। प्रकृति की सत्ता पुरुषार्थ में है। प्रलयावस्था में पुरुष का व्यवहार नहीं होता। अतः उस समय प्रकृति को सत् नहीं कह सकते। उसका अत्यन्ताभाव भी नहीं इसलिये असत् भी नहीं कह सकते। वाचस्पति क्या कह सकते? वही जो वेद ने कहा है—

तम आसीत् तमसो गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमाइदम् ।
तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् । ऋ० १०-१२९-३

उस समय अव्यक्त अक्रिया से ढका हुआ था। उसको व्यक्त करने वाला कोई चिह्न न था। प्रकृति थी। जो महान् शून्य से ढका हुआ था, वह (परमात्मा के स्वाभाविक) ज्ञान की महिमा से इकला उत्पन्न हुआ।

परमात्मा के ज्ञान को शास्त्रों में **'तप'** कहा गया है।

यस्य ज्ञानमयं तपः । उपनिषद्



अमर शहीद पं० लेखरामजी

परमात्मा के 'तस्य स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' से संसार की प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति से शुद्ध सत्त्व (Pure being) जिसे महान् या वेद ने आभु (समन्तात् भवति) कहा है, प्रकट होता है। नासदासीत् में का सत्‌बीज है। उसी का आविर्भाव सृष्टि की प्रवृति है।

फिर

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।

ऋ० १०. १२९. ४.

अर्थ—(परमात्मा का) ईक्षण हुआ। इससे मनन (ज्ञान) का प्रथम बीज पैदा हुआ।

महत् में व्यक्तित्व (individuality) नहीं होती। इसलिये उसे ज्ञान (प्रकेत) का नाम नहीं दिया। ज्ञान का प्रथम बीज है अहंभाव (अहंकार)। उसका आविर्भाव शुद्ध सत्त्व (Pure being) आभु के पश्चात् है।

यह सृष्टि-क्रम सांख्य दर्शनानुसार लिखा गया है। भाव के पीछे तद्‌भाव आता है। अहंकार ज्ञाता (मन्ता) का ज्ञातृभाव है। ज्ञाता ज्ञेय को चाहता है। इससे एक ओर इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। दूसरी ओर ज्ञेय की। ज्ञेय केवल ज्ञेयरूप में, जब उसमें और भेद-भाव की सृष्टि नहीं हुई, तन्मात्र (केवल वह) होता है। तन्मात्र अधिक व्यक्त होकर भूतों में परिणत होता है।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरिस्विदासीत्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन् स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्।

ऋ० १०. १२९. ५

अर्थः—अब इन पदार्थों का क्रम टेढ़ा होता है। कुछ उपर कुछ नीचे।...नीचे अपने में स्थिर रहने वाला भूत-प्रपञ्च और ऊपर प्रयत्न का साधन (इन्द्रियजाल)।

वैशेषिककार भूतों की उत्पत्ति परमाणुओं से मानते हैं। परमाणु सांख्यकार के तन्मात्र ही हैं। महात्मा कणाद् को इन कणों से आगे जाने का प्रयोजन न था। वाचस्पति के मत में तन्मात्र और भूतों के बीच की एक और अवस्था है जिसे परमाणु कहते हैं।

भूतों का क्रम

भूतों का क्रम उपनिषत्कार ने बांधा है—

आकाशाद् वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्‌भयः पृथिवी...।

आकाश ethereal state से वायु, वायु से gaseous state अग्नि, अग्नि से agneous state उससे जल liquid state उस से पृथ्वी solid state.

वेद में यह विषय यों आया है—

यदन्तरा द्यावापृथिवी अग्निरैत् प्रदहन् विश्वदाव्यः।
यत्रातिष्ठन्नेकपत्नीः परस्तात् क्वेवासीन् मातरिश्वा तदानीम्॥

अ० १०. ८. ४०

अर्थ—जिस ब्रह्म में आकाश (सूक्ष्मतम भूत) पृथ्वी (स्थूलतम भूत) सबको प्रकाशित करने वाला अग्नि (मध्य का भूत उसी में एक पत्नी) (आप:) और वायु अग्नि से क्रमश: (स्थूलतर और सूक्ष्मतर भूत) स्थिर थे।

आधुनिक विज्ञान भी प्राकृतिक प्रपंच की सूक्ष्मतम अवस्था (ether) को मानता है। (gaseous) वायवीय आदि अवस्थाएं उससे पीछे घटित हो सकती हैं।

भूत क्या है।

इन पांच भूतों को रासायनिक तत्त्व नहीं समझना चाहिये। यह भौतिकी Physics का विषय है। भू-विज्ञान ही तो भौतिकी है। वर्तमान भौतिकी में ether को heat उष्णता और (light) प्रकाश का आधार माना है आर्य तार्किकों ने पांच ज्ञानेन्द्रियों के विषयों शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, को एक-एक भूत का आधेय बनाया है। उष्णता, प्रकाश, विद्युत् की अपेक्षा यह पुराना वर्गीकरण युक्तियुक्त प्रतीत होता है। परन्तु इसके वैज्ञानिक परीक्षण की अब फिर अपेक्षा है।

आर्य तर्क में उत्पत्ति का अर्थ आविर्भाव है। नासदासीत् में सत् (आभु) था। केवल व्यक्त न हुआ था। आभु में मनसो बीज था। उसमें **तिरश्चीनो रश्मिः** था सूक्ष्म भूतों में स्थूल भूतों की सत्ता थी, आविर्भाव पीछे हुआ।

विकासवाद की समीक्षा

यह प्रकरण अधूरा रहेगा, यदि इसमें आधुनिक (Biological Evolution) जीवन-विकास के सिद्धान्त की संक्षिप्त समीक्षा न कर दी जाए।

जीवन का आरम्भ

विकासवादी (Protoplams) कललरस को जीवन का सरलतम रूप मानते हैं। वह भौतिक तत्त्वों का बना है। उसमें जीवन कैसे आया, यह प्रश्न प्रकृतिवाद से हल नहीं हो सकता। हम ऊपर कह चुके हैं कि आत्मा की प्रकृति से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता है। इसके मानने मात्र से यह समस्या झट सुलझ जाती है।

मौलाना रूम

विकासवाद की स्फूर्ति मौलाना रूम को भी हुई थी। उन्होंने लिखा है—"पत्थर से वनस्पति हुआ, वनस्पति से पशु, पशु से मनुष्य, मनुष्य से मैं देवता हो जाऊंगा।"

पत्थर से वनस्पति होना तो दूसरे रूप में तत्त्वों से कललरस बनना है। इस धारणा की कठिनाई का हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं। शेष एक वर्ग में परिवर्तन कैसे हुआ, यह मौलाना ने नहीं बताया। उनका ध्येय थियोसोफिकल सोसाइटी का (Reincarnation) है, अर्थात् एक ही जीव का पुनर्जन्म द्वारा चोला बदलते जाना या विकासवादियों का वंश-परम्परा द्वारा शरीर का विकास है कि किसी पुण्य प्रात:-काल वनस्पति देखते-देखते पशु हो जाए, पशु के गर्भ से मनुष्य पैदा हो इत्यादि ? मौलाना आत्मवादी हैं। इनकी धारणा पूर्वोक्त होगी अर्थात् थियासोफिस्टों की सी।

भूगर्भ विद्या की साक्षि

वनस्पति के बीज से पशु, और पशु के पेट से मनुष्य अभी तक पैदा होता नहीं देखा गया। विकासवादियों के सिद्धान्त का यह भाग (और यही भाग मुख्य है) कोरी कल्पना प्रतीत होती है। विकासवाद का वैज्ञानिक आधार कुछ भूगर्भ विद्या (Geology) तथा पशुगर्भ-विद्या (Embroyology) के आविष्कार हैं। भूगर्भ-विद्या के अन्वेषणों से पता लगता है कि पृथ्वी की निचली तहों में जलीय प्राणियों के पिंजर हैं, पार्थिव प्राणियों का वहां पता तक नहीं। पशु-पक्षी ऊपर की तहों में मिलते हैं। इससे कल्पना यह की जाती है कि पहिले सब प्राणी जलीय अर्थात् मछलियां आदि थे। उन्हीं के प्रजनन से पार्थिव पशुओं की उत्पत्ति हुई। हम ऊपर बता चुके हैं कि संसार की सृष्टि पहले आकाशीय (Ethereal) अवस्था में से गुजरी, फिर वायवीय अवस्था से, फिर आग्नेय, फिर जलीय और सबसे पीछे पार्थिव अवस्था आई। प्रत्येक अवस्था के अनुकूल ही प्राणियों का उद्भव हो सकता था। एक वर्ग दूसरे का वंशज नहीं। वह उस के पीछे आया, जब उस के रहने-सहने का सामान हो चुका था।

जलीय अवस्था से पूर्व आग्नेय अवस्था है। उस अवस्था का प्राणी कोई चिह्न छोड़ नहीं सकता। पिंजर छोड़ने वाले प्राणी उसी समय आ सकते हैं जब जलीय से पार्थिव अवस्था का विकास हो रहा हो। प्राप्त पिंजर संभवतः प्रथम पार्थिव सृष्टि हैं।

पशु गर्भ विद्या साक्षि

दूसरी साक्षि पशुगर्भ विद्या (Embroyology) की है। विकास की सीढ़ी में जो प्राणी पूर्वजाति के हैं, उनका गर्भ-जीवन सरल है। ज्यों ज्यों हम अधिक विकसित प्राणियों में आते हैं, उनके गर्भ-जीवन में उनसे निचले वर्ग की गर्भावस्था भी संक्षेप से दोहराई जाती है और उस वर्ग की अपनी अवस्था भी, उस अवस्था के अनन्तर घटित होती है। यथा गर्भस्थ मंडूक पहिले गर्भस्थ मछली के सदृश गर्भस्थ रहता है, फिर अपनी माण्डूकीय गर्भावस्था में आता है। ऐसे ही आगे वर्गों में होता है। गर्भावस्था की यह संकीर्णता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इससे विकासवादी अनुमान करते हैं कि मंडूक पहिले मछली रहा है, सर्प पहले मेंढ़क रहा है, पक्षी पहिले सर्प रहा है इत्यादि। संकीर्णता की उत्तरोत्तर उन्नति, वंश-परम्परा का फल होती तो प्रत्येक वर्ग के अन्दर भी पिता की गर्भावस्था पुत्र में दोहराई जाने के साथ-साथ पुत्र की गर्भावस्था में कुछ विशेषता आती; परन्तु इस विशेषता का कोई प्रमाण न भूगर्भ में मिलता है, न भूतल पर। प्राणि-जगत् के वर्गों में एक शृंखला है उत्तरोत्तर संकीर्णता है, यह बात इन वर्गों की गर्भावस्था से लेकर मरणावस्था तक के सारे जीवन-व्यवहारों में पाई जाती है। इससे रचयिता की रचना की सुन्दर सुव्यवस्था का प्रमाण तो मिलता है, वर्गों के उत्तरोत्तर वंशज होने का प्रमाण नहीं मिलता। वंशज होने का प्रमाण केवल एक ही हो सकता है। वह यह कि एक वर्ग के किसी प्राणी के पेट से कोई दूसरे वर्ग का प्राणी पैदा हो। ऐसा कोई उदाहरण न इतिहास में मिलता है, न भूगर्भ विद्या की खोजों में, और न आधुनिक अनुभव में ही आया है।*

---

*नवम्बर १९२२ के New Age में म० जान्स वोसन ने लिखा था—

ये साक्षियाँ हमारे अनुकूल हैं।

विकासवाद की युक्ति-शृंखला में से यदि शेषोक्त अर्थात् वंश-परम्परा संबन्धी कल्पना का भाग, जिसके लिये कोई प्रमाण नहीं, निकाल दिया जाय तो भूगर्भ-विद्या तो ऊपर कथित आर्य तर्क प्रदर्शित सृष्टि-परम्परा की पोषक सिद्ध होती है और पशु गर्भ विद्या परमात्मा की सर्वज्ञतान्वित रचना की।

"इसके आगे मैं निर्भयता से कहना चाहता हूँ कि आधुनिक समय तक प्राप्त विज्ञान इस बात का कोई निश्चय नहीं दिलाता कि पृथ्वी पर कभी उत्तरोत्तर विकास का नियम प्रचलित हुआ हो। प्राकृतिक इतिहास के निरीक्षक, चाहे वह इतिहास भूगर्भ विद्या का हो या वनस्पति शास्त्र का, इस बात को भली-भांति जानते हैं। जब कभी किसी फल व फूल वाले वृक्ष में हम कलम लगाकर उसे नए रूप में लाना चाहते हैं तो उसका परिणाम मूल वृक्ष की अपेक्षा नवजात संतति में अधिक मृदुता लाता है और प्राकृतिक नियम के विरुद्ध अपनी मूल जाति की ओर लौटने का नियम भी पूर्ण-रूपेण काम करता है। चुनाव द्वारा उन्नति का डार्विन का नियम भी इसी परिणाम को उत्पन्न करता है। मैं अपने बाग में घूमता हुआ वहाँ कलम किए पौधों को देखता हूँ। उनमें कृत्रिमावस्था से अपनी स्वाभाविक अवस्था में आने के लिए युद्ध हो रहा होता है। वहाँ प्राय: यही देखने में आता है कि पूर्व की अवस्था जो बलशाली होती है कृत्रिम अवस्था पर विजय पा लेती है। मैं अपने प्रमाण की पुष्टि के लिए मि० हैनरी डमन्डस लिखित "Natural law in the spiritual world" नामी पुस्तक के उस अध्याय को पेश करता हूँ जहाँ वह कबूतरों और गुलाब के पेड़ों के उदाहरण द्वारा इसी बात को पुष्ट करता है।

आगे चल कर आप लिखते हैं—

परन्तु अब वस्तुत: चाहे विकासवादी आधुनिक समय में विकास-नियम के चालू होने को मानते हों या न मानते हों, यह हम जानते हैं कि प्राचीनकालिक, मध्यकालिक व आधुनिक समय में कोई ऐसा नमूना इस बात की पुष्टि के लिए नहीं मिलता कि मानवीय जाति-उपजाति (Human species) में परिवर्तन होता है। यदि मनुष्यों की उत्पत्ति बन्दरों द्वारा शनै:शनै: विकास से मान ली जाय तो आगे उनका क्या हुआ ? यदि बच्चों ने अपने पिता-माता को खा लिया तो उनकी हड्डियों को तो वे नहीं खा सकते थे और इतने असंख्य प्राणियों में से कुछ तो ऐसे बचे रहते जो या तो पाषाण बन कर या ग्लेशियर के सूराखों में सुरक्षित रहते जैसे कि उत्तरीय साइबेरिया में अब तक ऐसे विशालकाय मेंमथ सुरक्षित रहे हैं जिनके पेट में पचा हुआ भोजन तक अभी कुछ-कुछ देखा जा सकता है .....परन्तु असख्यों, अरबों और करोड़ों प्राणियों में से एक भी ऐसा अभी तक प्राप्त नहीं हुआ जो जाति-उपजाति में वृद्धि (उन्नति) व परिवर्तन को दर्शा सके।

प्राचीन मिस्र देशीय कबरों में प्राप्त शरीर आजकल के ही शरीरों के समान हैं। यदि हम साक-का-रा (Sak-Ka-Ra) के पैरामिड्स की कोठरियों की दीवारों के चित्रों को, एवं ५७०० वर्ष पूर्व के राजाओं की कबरों के चित्रों को देखें तो स्पष्ट मालूम पड़ता है कि मनुष्य, पशुओं आदि में कुछ भी भेद नहीं आया

यह सृष्टिक्रम एक कल्प का है। प्रत्येक सृष्टि के पीछे प्रलय होती है और प्रलय के पीछे फिर सृष्टि। यह चक्र प्रवाह से अनादि है और अन्तकाल तक चालू रहेगा। अप्रासंगिकता के भय से हम यहाँ इस विषय का विस्तार नहीं करते।

सार

जीव अनादि है

विकासवादी केवल प्रकृति को सृष्टि का कारण मानते हैं। उनके मत में (Protoplasm) कललरस जीवन का सरलतम रूप है। इसी कललरस की वृद्धि और गुणन से संकीर्ण प्राणियों का विकास होता है। कललरस भौतिक पदार्थ है। उसमें चेतनता कैसे आती है? इस समस्या का समाधान जीव को पृथक् और अनादि मानने से ही होता है।

प्रकृति अनादि है

कुछ लोग केवल परमात्मा को आदि कारण मानते हैं। उनके इस शंका का उत्तर नहीं दिया जा सकता है कि चेतन परमात्मा से अचेतन जगत् कैसे पैदा होता है? प्रकृति को अनादि मानने से यह शंका मिट जाती है।

जीव

जीव पाप भी करता है। यदि एकमात्र परमात्मा सृष्टि में कारण हो तो पाप का बीज भी वही ठहरेगा। अत: जीव को अनादि स्वतन्त्र कर्त्ता मानना चाहिए। स्वतन्त्रता पैदा की जाय तो वह स्वतन्त्रता न होगी।

परमात्मा

परमात्मा की सिद्धि पूर्व हो चुकी है।

तीन कारण

सृष्टि के तीन कारण होते हैं—(१) परमात्मा नियामक होकर, (२) जीव (मरुद्भ्य: ऋ०) कर्मफल का भोक्ता होकर, यही प्रकृति का पुरुषार्थ है, (३) (सुदुघा पृश्नि: ऋ०) प्रकृति उपादान होकर।

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्।

सृष्टिक्रम

सृष्टि से पूर्व प्रकृति थी। व्यास मुनि ने योगसूत्र २-१९ का भाष्य करते

अर्थात् वैसे ही हैं जैसे कि आजकल के। ब्रिटिश म्युजियम का अध्यक्ष डाक्टर ऐथ्रिज [Ethridge] कहता है—"इस सारे बड़े अद्भुतालय (Museum) में कोई कण भी ऐसा नहीं है जो यह सिद्ध कर सके कि जातियों (Species) में परिवर्तन हुआ है। विकास विषयक ९० प्रतिशत बातें व्यर्थ, फजूल और नि:सत्व हैं। इनका परीक्षण, निरीक्षण व सत्यता का कुछ आधार नहीं है।"

इंग्लैंड के प्रकृति-विद्या-विशारदों में से बड़ा विद्वान् प्रोफेसर ओवन (Owen) बड़े बलपूर्वक कहता है—"आज तक मनुष्य ने जाति (species) परिवर्तन का एक भी उदाहरण हमारे सामने नहीं रखा है।"

हुए प्रकृति को निस्सत्तासत् "निसदसत्" कहा है। प्रकृति असत् इसलिये न थी कि वह परमार्थ में थी। सत् इसलिये न थी कि उनका व्यवहार न था।

महान् तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्।

अभाव से जो महान् ढका हुआ था, वह एक (परमात्मा के) तप से उत्पन्न हुआ।

तप: का अर्थ "स्वाभाविकी बलक्रिया" है। उससे तो सदासीत् से आभु (Pure being) सत् (महान्) उत्पन्न हुआ।

मनसो रेत: प्रथमं यदासीत्।

अहंकार तन्मात्र, इन्द्रिय और भूत

इससे ज्ञान का प्रथम बीज अहंकार—मैं हूँ, यह ज्ञान, और तन्मात्र केवल वह, यह ज्ञान, पैदा हुआ। यह शुद्ध सत्त्व का अधिक व्यक्त रूप है। इसके आगे सृष्टि का क्रम 'तिरश्चीनोरश्मि:' दो मुखा होता है।

स्वधा अवस्तात् प्रयति: परस्तात्। ऋ०

अपने में आश्रित रहने वाले भूत एक ओर, यत्न के साधन मन और इन्द्रिय दूसरी ओर।

आर्य तर्क प्रकृति का विकास पुरुषार्थ (जीवी की आवश्यकता) के अनुसार मानता है।

परमाणु

वैशेषिक कथित परमाणु तन्मात्र का ही है। कणभुक् को इन कणों से आगे प्रयोजन न था।

भूतों का विकास

भूतों का विकास यों हुआ—

यदन्तरा द्यावापृथिवी अग्निरैत् प्रदहन् विश्वदाव्य:।
यात्रातिष्ठान्नेकपत्नी: परस्तात् क्वेवासीन्मातरिश्वा तदानीम्।

१. आकाश	२. वायु	३. अग्नि	४. जल	५. पृथिवी
Etherial state	Gaseous	Agneous state	Liquid state	Solid state

यह क्रम युक्ति-युक्त है।

विकासवाद की समीक्षा

विकासवाद एक जाति के गर्भ से दूसरी जाति की उत्पत्ति मानता है, यथा मछली से मेंढ़क, मेंढ़क से सांप, सांप से पक्षी, पक्षी से स्तनधारी। इसमें विकासवाद की युक्तियां ये हैं—

१. भूगर्भ विद्या की साक्षि पृथिवी की निचली तहों में जलचरों के पिंजर मिलते हैं। ज्यों-ज्यों हम ऊपरली तहों पर आते हैं, अधिक विकसित प्राणियों के पिंजर मिलते हैं।

इसका उत्तर—भूतों के विकास का जो क्रम ऊपर दिया है, उसमें सूक्ष्म भूतों में रहने वाले प्राणी ही पहिले पैदा हो सकते हैं। जब तक प्रकृति आग्नेय अवस्था में

थी, पिंजर न बन सकते थे। पिंजर उस समय बने जब जलीय से पार्थिव सृष्टि होने लगी। यही कारण है कि निचली तहों में जलीय प्राणियों के पिंजर मिलते हैं।

२. पशुगर्भ विद्या की साक्षि—संकीर्ण पशु सरल पशुओं की गर्भावस्था में से गुजरते हैं। प्रतीत होता है कि मेंढक पहिले मछली रहा है, इत्यादि :

उत्तर—इससे रचना में क्रम (सूत्र) का द्योतन होता है, विकास का नहीं।

विकास की सच्ची साक्षि एक जाति के किसी प्राणी के पेट से दूसरी जाति के प्राणी की उत्पत्ति ही हो सकती है और इसका कोई प्रमाण नहीं।

अतः वैदिक विचारधारा के अनुसार जीव, प्रकृति और ब्रह्म का अनादि होना ही सत्य और विज्ञान सम्मत है।

४—ज्ञान का प्रारम्भ

विज्ञान की उन्नति

आधुनिक युग विज्ञान की उन्नति का युग है। मनुष्य ने विज्ञान-बल से ब्रह्माण्ड भर की शक्तियों को अपने आधीन करने की ठान ली है। भाषा का परिमार्जन हो रहा है। विचार व्यक्त करने की उत्तम से उत्तम शैलियों का आविष्कार किया जा रहा है। प्रत्येक देश अपने शब्द पंज को बढ़ाता तथा परिष्कृत करता जाता है। 'आत्मा' के सम्बन्ध में भी नए-नए परीक्षण हो रहे हैं।

पशु सदृश मनुष्य

एक ओर यह चमत्कार-पूर्ण दृश्य है, दूसरी ओर अफ्रीका के मानवभोजी मनुष्य हैं। अपने ही देश के भील हैं, गोंड हैं। इन्हें सभ्यता छू तक नहीं गई। विचार होता है कि क्या कभी उन्नत देशों की भी यही अवस्था थी ? भूगर्भ विद्या की खोज ने अनेक देशों की भूमि का पेट चीर-चीरकर पुराने मनुष्यों के पिंजर निकाले हैं। उन पिंजरों के साथ बहुत कुछ ऐसी सामग्री मिलती है जो कोरी असभ्यता की परिचायक है। पत्थर के और फिर धातु के टेढ़े-मेढ़े अस्त्र वर्तमान हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि आज जहां विज्ञान का अखंड, उत्कर्षोन्मुख राज्य है, वहां कभी पशु-सदृश मनुष्य पाशविक जंगली जीवन व्यतीत करते रहे होंगे।

विकासवाद

विकासवादियों का कहना है कि आरम्भिक मनुष्य बोलना न जानते थे, उन्हें किसी पदार्थ के गुणों का पता न था। आत्मा का तो प्रश्न ही पीछे उठा। ज्ञान का प्रादुर्भाव आकस्मिक हुआ और उसमें उत्तरोत्तर उन्नति की गई। इसी उत्तरोत्तर उन्नति का परिणाम आजकल का वैज्ञानिक उत्कर्ष है।

धर्मवाद

इनके विरुद्ध धर्मवादी हैं। उनका सिद्धांत यह है कि सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने मनुष्य को ज्ञान दिया, भाषा दी, आत्मा का पूरा पता दिया। वही ज्ञान कई अंशों में बढ़ा और कई अंशों में घटा है। हमें लेख में यह विचार करना है इनमें से कौन-सा पक्ष ठीक है ?

भाषा की समीक्षा

हम सबसे पूर्व भाषा को लेंगे, इसलिये कि भाषा मानव सभ्यता का प्रधान अंग है। क्या ज्ञान और क्या तर्क इसी के सहारे उन्नति को प्राप्त होते हैं। किसी जाति की भाषा के उन्नत व अवनत होने से उस जाति की प्रत्येक अंग की उन्नति वा अवनति का परिचय मिलता है। विकासवादियों का कहना है कि भाषा का प्रादुर्भाव धीरे-धीरे होता है। बच्चा पैदा होते ही बोलना नहीं जानता। ज्यों-ज्यों बड़ा होता है, उसे बोलना आता जाता है। किसी समय सारी मानव जाति बालक थी, इसे बोलना न आता था। धीरे-धीरे इसने बोलना सीखा। कैसे ? इसमें विविध मत हैं।

बाऊवाऊ वाद

परन्तु, सब मत कुछ मिलते-जुलते से हैं। एक का नाम है Bow Vow Theory बाऊवाऊ की कल्पना। इसका अभिप्राय यह है कि पशु-जगत् की स्वाभाविक ध्वनियों को सुनकर मनुष्य ने उसके अनुकरण में अपनी भाषा का निर्माण किया। अन्य मतों में पशुओं के स्थान में अन्य पदार्थों को रखकर वही सिद्धांत स्थापित किया है कि भाषा का निर्माण प्राकृतिक ध्वनियों के अनुकरण से हुआ है।

एकान्त में रखे गए बालक

धर्मवादियों को पहिले तो उपरिकथित बच्चे के दृष्टान्त पर ही आक्षेप है। बच्चा बोलना नहीं जानता। परन्तु क्या वह किसी नई भाषा का निर्माण स्वयं करता है ? उसे बनी बनाई भाषा सिखाई जाती है। अकबर आदि कई राजाओं ने नवजात बालकों को भाषा-भाषी जनता से पृथक् किसी निर्जन स्थान में रक्खा। उन्होंने किसी भाषा का विकास नहीं किया। कहा जा सकता है कि कुछेक वर्ष इस विकास-क्रिया के परीक्षण के लिये अपर्याप्त थे। वस्तुतः बच्चों का दृष्टान्त दोनों पक्षों के लिये कोई विशेष महत्वपूर्ण साक्षी नहीं है। आपत्ति उन कल्पनाओं पर है जो विकासवादियों की ओर से विकास का स्वरूप बताने के लिए प्रस्तुत की जाती है। क्या कोई जाति इस समय बाऊवाऊ आदि शब्दों से कोई नया भाव बना रही है ? या कम से कम किसी भाषा के अधिक शब्द ऐसे हैं जिनका मूलाकार भाषा-विज्ञान की दृष्टि से बाऊवाऊ आदि शब्द, जिनको Anomatopoetic ध्वन्यनुकारी कहते हैं, हों ? स्वयं भाषा-विज्ञान-विशारदों की सम्मति में किसी भाषा में ध्वन्यनुकारी

शब्दों की बहुतायत नहीं। भाषा-विकास की कोई कल्पना भाषा के आरम्भ की समस्या को सुलझा नहीं सकी। श्रीयुत् मोक्षमूलर ने अपने (Science of Language) नामक ग्रन्थ में स्पष्ट रूपेण स्वीकार किया है कि भाषा तो परमात्मा की प्रदान की हुई प्रतीत होती है। यह प्रदान सृष्टि के प्रारम्भ में ही हो सकता था। अथर्ववेद में आया है—

अपूर्वेणोषिता वाचस्ता वदन्ति यथा यथम्। अ० १०.८.३३

अनादि परमात्मा भाषा की स्फूर्ति देता है। उसे वैसे का वैसा बोलते हैं।

अर्थात् भाषा अपने पूर्णरूप में सृष्टि के आरम्भ में प्रादुर्भूत होती है।

ऋग्वेद में कहा है :—

वृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैत नामधेयं दधानाः। ऋ० १०.७१.१

हे वाणी के पति परमात्मन् ! वाणी का प्रथम बीज मनुष्यों ने पदार्थों के नाम रखते हुए (आप से) प्राप्त किया।

कुरान में कहा है कि—

परमात्मा ने आदम को नाम सिखाए। (सूराबकर)

विज्ञान-विकास समीक्षा

जो अवस्था भाषा की है, वही विज्ञान की भी है। यदि ज्ञान के उत्तरोत्तर विकास का सिद्धान्त सत्य होता तो प्रत्येक जाति का वर्तमान काल उसके भूतकाल से उत्कृष्ट होता। परन्तु अवस्था इसके विरुद्ध भी है। प्रत्येक जाति को किसी स्वर्णमय भूत का सपना आता है। सम्भव है वह सपना असत्य हो परन्तु निम्नलिखित साक्षियां सपनां नहीं हैं। यह तो प्रत्यक्ष दृश्यमात्र भौतिक भवनों की अनुपेक्ष्य बोलियाँ हैं—

(१) जोन्स बौसन (Jones Bowson) ने नवम्बर २२ के New Age में एक लेख लिखते हुए निम्न विचार प्रकट किये हैं—

"यदि मनुष्य जाति का इतिहास उत्तरोत्तर विकास का इतिहास है, तो क्योंकर चीनी लोग ईस्वी संवत् से पूर्व गन पौडर और सामुद्रीय ध्रुवदर्शक सुई (Mariner's compass) से अभिज्ञ थे और क्यों वे अब उसे भूल गये हैं ? एवं क्योंकर अब भारत में मुगल राज्यों के कारनामों के दर्शनीय दृश्य केवल उनके भवनों और कबरों में ही देखे जा रहे हैं ? हिन्दू जाति क्यों ४०० वर्ष से पीछे चली गई है ? क्योंकर १२वीं से १४वीं शताब्दी तक के कम्बोदिवा, अंगकोर और जावा में बरोवेदरों के खंडहरों को अब आश्चर्य की दृष्टि से देखा जाता है ? क्योंकर पीकिङ्ग में राजकुमारियों के ग्रीष्मऋतु के घरों की छतों पर लगी हुई खपरैलों के बनाने की विधि और ग्रनेडा (Granada) में अलहम्ब्रा (Alhambra) की दीवारों पर रंग के काम करने की विधि का प्राचीन मूर लोगों के साथ ही लोप हो गया। क्योंकर अब मिस्र के रहने वाले लोग ज्योतिष और गणितशास्त्र से अपरिचित हैं जबकि वृत्त के वर्गीकरण सिद्धान्त को जानते हुए उन्होंने चीप्स (Cheeps) के बड़े बड़े पैरामिड्स को ऐसी स्थिति में खड़ा किया था जहां कि वे Vernal Equinox के दिन मध्याह्न समय अपनी छाया को अपने में लुप्त कर दे। Hydraulic machinery के बिना ही किन

साधनों से करनाक और पालमायरा (Karnak & Palmayra) के राज-मंदिरों पर इतने भारी-भारी पत्थरों को लाकर रख दिया गया था? चित्र विद्या सम्बन्धी विज्ञान-जिसके कारण ही ऐज्टक्स (Aztecs) पर चित्र विचित्र सुनहरी और पंखों का काम हुआ था अब क्यों विलुप्त हो गया? निस्सन्देह, जो व्यक्ति धर्मभाव से सत्य की खोज करता है, उसकी यही सम्मति होगी कि अनेक दिशाओं में विनाश के साथ-साथ कुछेक दिशाओं में ही मानवीय उन्नति हो रही है।"

(२) अगस्त १९२३ के थियासोफिकल-पाथ में केट हैन्सन ने लिखा था—

नैवदा (Nevada) में जान-टी-रीड (John T. Reid) को एक आदमी का पद-चिह्न और एक अच्छी प्रकार बना जूते का तला मिला है जिसे वह चट्टान-विषयक अपने भूगर्भ विद्या सम्बन्धी ज्ञान से ५० लाख वर्ष पूर्व बतलाता है। रौकफेलर संस्था के सूक्ष्म-चित्रमुद्रकों (Microphotographers) को ऐसे सीवन धागों के मरोड़, सीने के छेद, और धागों के माप मिले हैं, जो आजकल के जूतों के प्रयुक्त धागों से अधिक पक्के और सूक्ष्म हैं। इस जूते के तलों के साथ डाइनोसर्ज (Dinosaurs) के पैरों का निशान और उनकी हड्डियां भी मिली हैं। प्रोफेसर रीड (Prof. Reid) और उनके सहकारियों को उनके लगातार वैज्ञानिक विश्लेषण, खोज और परिश्रम तथा उदारता के लिये धन्यवाद हैं। उन्होंने इस बात को स्वीकार कर लिया है कि "वे जूते इतनी ऊंची बुद्धि के प्रमाण हैं जितनी कि आजकल लिन (Lynn) ब्रौकटन्स (Brocktons) मैसेचसटस (Massachusetts) में जूते बनाने में दर्शायी जाती है।"

(३) थियासोफिकलपाथ मार्च १९२४ में C. J. Ryan ने लिखा था—

"माइक्रोनेशिया पश्चिमीय शान्त समुद्र में पोनेप (Ponape) एक द्वीप है जहां कि बेसाल्ट की बड़ी दीवारें कई वर्ग मीलों तक बनी हुई मिली हैं। उनकी बनावट ठोस विशालकाय पत्थर की है और वे इतनी दृढ़ हैं कि हजारों वर्षों के तूफान भी उनका कुछ बिगाड़ नहीं सके।"

वैज्ञानिक विकास न तो इन पुरानी जातियों में हुआ है न आजकल की भील गोंड आदि जातियों में स्वतः होता दीखता है। मानव जाति, मानव बालक की तरह बाह्य शिक्षा की अपेक्षा रखती है, स्वतः विकास नहीं करती। विज्ञान का आरम्भ दैवी प्रेरणा से होता है।

डार्विन महाशय विकासवाद के प्रवर्तक समझे जाते हैं। श्रीयुत वैलेस इस आविष्कार में उनके सहकारी थे। वह अपनी पुस्तक Social Environment and Moral Progress में शेष विकास को तो मानते हैं परंतु मनुष्य पर आकर वह भी ठहर जाते हैं। उनका मत यह है कि मनुष्य में आत्म-शक्ति का प्रादुर्भाव परमात्मा की विशेष कृपा का फल है। ईसाई संस्कारों के कारण यह महाशय पशु-पक्षियों में आत्म-सत्ता नहीं मानते। प्रतीत होता है कि मनुष्य की आत्म-शक्ति से इनका अभिप्राय मानवीय विज्ञान विभूति से होगा। इसमें मानव जाति ने विशेष उत्कर्ष दिखाया है। हमें यहां वैलेस महाशय की ईसाइयत की पड़ताल करना अभीष्ट नहीं। हमें तो केवल उनके इतने लेख से काम है कि विज्ञान की आरम्भिक प्रेरणा परमात्मा से आती है। उन्होंने लिखा है—

"हमको स्वीकार करना चाहिये कि वे मस्तिष्क जिन्होंने ऐसे विचारों का जो इन वेद की ऋचाओं से प्रकट होते हैं, विचारा और उन्हें उपपन्न भाषा में प्रकट किया, किसी अवस्था में भी हमारे उत्तम से उत्तम धार्मिक शिक्षकों, कवियों, हमारे मिलटनों और हमारे टैनीसनों से न्यून नहीं थे।"

वेद का मत

वेद का सिद्धान्त इस विषय में भी वही है जो भाषा के विषय में है। ज्ञान का बीज सृष्टि के आदि में मनुष्यों को दिया जाता है। ऐसे ऋषि जो पूर्व कल्प के कर्मों से अपने आपको इतना पवित्र बना चुके हैं कि उनका अन्तश्चक्षु खुल गया है जो अपनी उज्ज्वल प्रतिभा से पदार्थों के तात्विक रूप का अनुभव करते हैं, वह परमात्मा की करुणा से इस पवित्र अमृत को अपने विमल हृदयों द्वारा पाते हैं। उन्हीं की वाणी वेदवाणी होती है।

इयं पित्र्या राष्ट्र्येत्वग्ने प्रथमाय जनुषे भुवनेष्ठः।

यह पिता परमात्मा का उज्ज्वल ज्ञान प्रथम जन्म लेने वाले को प्राप्त होता है। वह ज्ञान ब्रह्माण्ड में स्थिर है।

प्रयो जज्ञे विद्वानस्य बन्धुर्विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति।
ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार मध्यान्नीचैरुच्चैः स्वधा अभिप्रतस्थौ॥

अ० ४, १, २

जो प्राणीमात्र का बन्धु-विद्वान् सब दिव्य पदार्थों का तत्व बताना चाहता है, वह परमात्मा से वेद का ज्ञान प्राप्त करता है। उसे नीचे, ऊपर और बीच में, अपने सहारे से खड़ा उस ज्ञान का अनुभव होता है।

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्

अ० १०, १, ३

वाणी की खोज यज्ञ से की गई। उसे ऋषियों में प्रविष्ट पाया गया।

चार ऋषि

यहां 'ऋषिषु' शब्द ध्यान देने योग्य है। वेद का प्रथम ऋषि एक नहीं, अनेक हैं, दो से अधिक हैं। कितने हैं? इसका उत्तर इसी सूक्त के अन्त में दिया गया है—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः॥

ऋ० १०, ७१, ११

एक (अग्नि) ऋग्वेद का ज्ञान पाता है। दूसरा (आदित्य) मन्त्रों से साम-गान करता है। तीसरा ब्रह्मा विज्ञान (अथर्ववेद) को कहता है। चौथा (वायु) कर्म की विधि (यजुर्वेद) को पाता है—

इस विभाग का कारण मनुष्यों का बुद्धि-भेद है। मानस क्षेत्र में चार प्रकार का उत्कर्ष पाया जाता है—

१. कर्म प्रधान। २. भक्ति प्रधान। ३. ज्ञान प्रधान। ४. विज्ञान प्रधान।

ज्ञान विज्ञान का भेद भगवान् कृष्ण गीता में कहते हैं। संपूर्ण मानसिकता किसी व्यक्ति में नहीं होती, प्रत्येक में एक अंश की प्रधानता और अन्य अंशों की गौणता रहती है। इस नैसर्गिक आवश्यकता की पूर्ति वेद के इस विभाग से होती है।

भूगर्भ की खोजों का उत्तर

अब हमें यह विचार करना है कि भूगर्भ-विद्या की उन खोजों का क्या समाधान है जिनके द्वारा पुराने मानव निवासों से जांगलिक जीवन की सामग्री के अतिरिक्त कुछ उपलब्ध ही नहीं होता ? इस विषय में धर्मवादी और विकासवादी सहमत हैं। मनुष्य जहां अपनी वैज्ञानिक विभूति बढ़ा सकता है, वहां उसे घटा भी सकता है। धर्मवादी विकास को भी मानते हैं, ह्रास को भी। जैसे व्यक्तियां उन्नत और अवनत हो सकती हैं, ऐसे ही जातियां भी। आरम्भिक ज्ञान प्रभु देते हैं, फिर उनके बढ़ाने-घटाने में मानव व्यक्तियां तथा जातियां स्वतन्त्र हैं।

आत्म-ज्ञान में विकास नहीं हुआ

भाषा तथा विज्ञान का विचार कर चुकने के पीछे आत्मज्ञान का प्रश्न रह जाता है। उस पर भगवती श्रुति का कहना यह है कि—

नूनं तदस्य देवस्य काव्यो हिनोति महोदेवस्य पूर्व्यस्य धाम।

अ० ४, १. ६

उस प्रभु का काव्य (वेद) भगवान् के महान् स्वरूप का वर्णन करता है।

वेद धर्म-पुस्तकों में सब से पुराना है। यदि आत्मज्ञान सम्बन्धी कोई नया आविष्कार इससे पीछे आए धर्म-पुस्तकों ने किया हो अथवा उसी ज्ञान को ही अधिक उन्नत अवस्था तक पहुंचाया हो तो आत्मज्ञान के क्षेत्र में विकास का अस्तित्व माना जा सके। परन्तु ऐसी उन्नति का कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया गया। अतः मानना पड़ेगा कि आत्मज्ञान परमात्मा की ओर से आया और पूर्ण आया।

आहा! वह कैसा पुण्य दिवस होगा जब ऋषियों ने वेद की आज्ञा का प्रचार कर मनुष्य जाति को पहिले-पहल पशु से मनुष्य बनाया होगा। वेद कहता है—

अहर्यच्छुक्रं ज्योतिषो जनिष्ठाधा द्युमन्तो विवसन्तु विप्राः।

अ० ४, १,-५

वह उज्जवल ज्योति का दिन उदय होता है जब आज्ञा मिलती है कि अब ज्ञानी लोग ज्ञानपूर्वक विविध रीतियों से जीवन-निर्वाह करें। वही दिन मानव सृष्टि का प्रथम दिन होता है।

सार

विकासवाद

विकासवाद का सिद्धान्त है कि प्रारम्भिक मनुष्य जंगली थे जैसे कि आजकल अफ्रिका के हब्शी तथा हमारे यहां के भील गोंड हैं। उन्होंने भाषा, विज्ञान तथा आत्म-विज्ञान में उत्तरोत्तर उन्नति की है।

धर्मवाद

इसके विपरीत धर्म का सिद्धांत यह है कि प्रथम ज्ञान परमात्मा ने दिया। उसे मनुष्यों ने कई अंशों में घटाया है।

भाषा की उत्पत्ति

प्रथम भाषा ही को लीजिये। विकासवाद कहता है कि पशुओं तथा अन्य पदार्थ और क्रियाओं की प्राकृतिक ध्वनियों को सुनकर मनुष्यों ने धीरे-धीरे अपनी भाषा का निर्माण किया। परन्तु न तो कोई भाषा इस प्रकार से बनती देखी गई है न किसी भाषा का शब्दकोश ऐसे ध्वन्यनुकारी शब्दों से भरा हुआ है। भाषा के प्रारम्भ की समस्या विकासवादियों से नहीं सुलझी। मैक्समूलर ने भी अन्त में भाषा को ईश्वर प्रदत्त माना है। वेद में स्पष्ट कहा है—

अपूर्वेणोषिता वाचः। अ०

अनादि परमात्मा ने शब्दों की प्रेरणा की है।

ज्ञान का विकास भी हुआ, ह्रास भी

यही अवस्था विज्ञान की है। यदि विज्ञान के क्षेत्र में उत्तरोत्तर विकास ही हुआ होता तो सब जातियों की आधुनिक अवस्था प्राचीन अवस्था से उच्च होती परन्तु ऐसा है नहीं। भारतीय और चीनी जातियां इस वाद का प्रत्यक्ष खण्डन हैं। मिस्र के मीनार, जावा के भवन इत्यादि उन देशों के प्राचीन उत्कर्ष का प्रमाण हैं। भूगर्भ विद्या ने पिछले दिनों एक जूते की खोज की थी, जिसकी सिलाई आजकल की कलाओं के सदृश है। वह जूता लाखों वर्ष पुराना कहा जाता है। जावा के भवनों के पत्थर इतने बड़े हैं कि आजकल की कलाएं कठिनाई से उठाकर उन्हें इतना ऊंचा ले जा सकती हैं। मिस्र के मीनार उच्च ज्योतिष तथा गणित विद्या का परिचय देते हैं। जहां एक ओर यह प्राचीन उत्कर्ष का प्रमाण मिलता है, वहां कई देशों में जंगली मनुष्यों के जंगली उपकरण भी उनके पिंजरों के साथ पड़े मिलते हैं। इस समय भी पशु सदृश्य मनुष्य जातियां हैं। धर्मवाद का समाधान इन जंगलियों के विषय में यह है कि प्रारम्भिक ज्ञान इन्हें भी मिला था परन्तु इन्होंने इसका ह्रास कर दिया। धर्मवाद विज्ञान की प्रथम प्रेरणा प्रभु से मानकर उसके विकास तथा ह्रास की शक्ति मनुष्यों में मानता है। वेद में कहा है—

ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार। अ० ४, १, ३

वेद परमात्मा से प्राप्त किया गया।

चार ऋषि

यही वेद वाणी ऋ० १०, ७१, ३ में 'ऋषिषु प्रविष्टा' कही गई है। ऋषिषु का अर्थ 'बहुत ऋषियों' में है। अर्थात् वह ऋषि दो से अधिक थे। कितने थे? यह भी उसी सूक्त में कहा है—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदन्ति जातविद्यां यज्ञस्यमात्रां विमवीत उ त्वः॥

ऋ० १, ७१, १

यह विभाग वैज्ञानिक है क्योंकि मानव शक्ति ४ प्रकार की होती है—

१. ज्ञान प्रधान, २. कर्म प्रधान, ३. भक्ति प्रधान, ४. विज्ञान प्रधान। यही विशेषता क्रमशः ऋक्, यजुः, साम और अथर्व वेदों के मंत्रों की है।

आत्म-ज्ञान

आत्मज्ञान की पूर्ण प्रेरणा आरम्भ में हुई। वेद कहता है—

नूनं तदस्य देवस्य काव्यो हिनोति महो देवस्य पूर्व्वस्य धाम।

उस प्रभु का काव्य (वेद) उस अनादि देव के महान् तेज का वर्णन करता है।

वेद में आए आत्मा तथा परमात्मा के वर्णन से बढ़ना तो कहां ? वैसा वर्णन भी मनुष्यकृत ग्रन्थों में नहीं पाया जाता। अतः इस विषय में विकास का होना कैसे माना जाए ?

५—मुक्ति और उसके साधन

जीवन बन्धन है

धर्म का ध्येय मुक्ति है अर्थात् छुटकारा। साधारण मनुष्य के लिए संसार बन्धन है। यह जीते हैं, इसलिये कि उन्हें जीना पड़ता है। वह परिश्रम करते हैं, इसलिये कि उन्हें परिश्रम करना पड़ता है। यदि भोजन का झंझट न हो तो वह हाथ पांव ही न हिलाएं। उनकी दृष्टि में हाथ पांव न हिलाना मुक्ति है! वास्तव में देखा जाये तो आलस्य और मुक्ति एक दूसरे के सर्वथा विरोधी भाव हैं। मुक्त मनुष्य कर्म करता है, हां! कर्म की ग्लानि से सदा छूटा रहता है।

मृत्यु का भय

ऐसे भी लोग संसार में विद्यमान हैं जो जीवन को मानो त्योहार समझते हैं। उनके लिए जीवन भार नहीं! हंसते खेलते समय-यापन करते जाते हैं, परन्तु मृत्यु उनके लिए भी भयंकर होती है। कोई आपत्ति आ जाये तो अधीर होकर बैठ जाते हैं। अवश्यंभावी को भोग लेते हैं सही, परन्तु बाधा-वश होकर। मुक्ति इन बाधाओं

से ऊपर होने की आस्था है। जीवन्मुक्त जीता है और सर्वथा आनन्दपूर्वक जीता है। मरे पीछे उसे कल्प पर्यन्त जीवन लाभ करना है। उसे मृत्यु का भय नहीं होता। वह तो जीवन-मरण का समभाव से स्वागत करता है। इसी अवस्था को वेद में अमृत कहा है।

मुक्त स्वभाव

'मुक्त स्वभाव' परमात्मा है। उनका ज्ञान-बल-क्रिया स्वाभाविक है। उन्हें उसमें ग्लानि नहीं होती। प्रभु का परिश्रम वास्तव में 'अनथक' है। प्राणिमात्र के कल्याण के लिये वेद का उपदेश कर दिया है। कोई लाभ उठा ले तो उसकी इच्छा, न उठाए तो भी उसकी इच्छा। इसका हानि लाभ उसी को होगा। संसार के जीवन प्रभु का आनन्द पर कोई प्रभाव नहीं।

मनुष्य की मुक्ति

प्रभु निर्विकार हैं, एक रस, आनन्द स्वरूप हैं। इसके विपरीत मनुष्य की मुक्ति परिश्रम साध्य है, स्वभाव-सिद्ध नहीं। यह जितना परमात्मा के निकट जाता है उतना अधिक आनन्द का अनुभव करता है। मुक्ति की दशा में आत्मा-परमात्मा का अत्यन्त सामीप्य होता है। वेद ने इस भाव को बड़ी सुन्दरता से दर्शाया है—

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमात्रा विवेश ॥

ऋ० १, १६४, २१

अर्थ—जिसमें सुकर्मचारी लोग ज्ञान से अमृत के प्रसाद को निरन्तर प्राप्त करने की घोषणा करते हैं, वह समस्त संसार का स्वामी और रक्षक अपने ज्ञान में रमने वाला मुझ परिपक्व (यम नियम से पके हुए) आत्मा में प्रविष्ट है अर्थात् मुझे उसका साक्षात्कार होता है। इस मुक्ति-सुख का भोग इन्द्रियों द्वारा नहीं होता। आत्मा अपनी शक्तियों से परमात्मा के सहारे उस परम आनन्द का भोग करता है। आगे फिर कहा है—

तन्नो नशद्यः पितर न वेद। ऋ० १६४, २२

वह उस (प्रसाद) को प्राप्त न करेगा जो (जगत्-पिता) को नहीं जानता। यजुर्वेद में भी कहा है—

तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

उसको जानकर मृत्यु से परे होता है। मुक्ति का और कोई रास्ता नहीं। मुक्ति का साधन परमात्मा-ज्ञान है। यह ज्ञान मन आदि इन्द्रियों द्वारा प्राप्त नहीं होता। परमात्मा का साक्षात्कार गुहा (अन्तर्हृदय) में आत्मा की एकाग्रता द्वारा किया जाता है। अन्य द्वारों पर दूत भेजे जा सकते हैं, यहां आप अपना सन्देशहर होता है। संस्कृत में विद् धातु का अर्थ ज्ञान और प्राप्ति दोनों है। परमात्मा की सिद्धि के प्रकरण में हमने 'अंतः प्रत्यक्ष' का उल्लेख किया था। वास्तविक ज्ञान वही है जिसकी उपलब्धि इन्द्रियों के आवरण हटाकर की जाती है और परमात्मा के संबन्ध में तो इसके अतिरिक्त और कोई प्रमाण विश्वासप्रद होता ही नहीं। उपरिलिखित मन्त्र (ऋ० १, १६४, २१) में ही साधक परमात्मा-दर्शन की अपनी साक्षि देने से पूर्व अपने

आपको 'पाकः' अर्थात् परिपक्व कहता है। उसे कुठाली में ढाला जा चुका है। वह अभ्यास द्वारा अब शुद्ध सुवर्ण बन चुका है जिसका वर्ण 'आदित्य-वर्णः 'परमात्मा कर सकते हैं। वह कुठाली कौन-सी है ? सद्विचार सत्योच्चार और सदाचार की। वेद कहता है—

ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया सुतः। ऋ० १, ६, १ १३,२

महामुनि पतंजलि ने इस साध्य की सिद्धि के लिए अष्टांग योग का उपदेश किया है। यम नियम से लेकर समाधि पर्यन्त सभी चित्त-निरोध के साधन हैं। यमों में समाज सम्बन्धी संयम का समावेश है, नियमों में वैयक्तिक यन्त्रणा का। फिर आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि, चित्त को एकाग्र करने की सुव्यवस्थित प्रणाली की सीसीढ़ियां हैं। आसन और प्राणायाम आत्मैकाग्रता के शारीरिक साधन हैं तो धारणा और ध्यान मानसिक उपाय हैं। समाधि मन सहित कारणों के पीछे रह जाने की अवस्था है। वहां प्रभु और भक्त के बीच में और कोई नहीं होता। तभी तो अथर्व वरुण से कहता है—

वेदाहं तद्यन्नावेषा समा जा। अ० ५. ११. ११.

मैं जानता हूं जो मेरी-तेरी समान ख्याति है। इसी ऐक्य भाव के रहस्य को अधूरा समझकर कुछेक विचारकों ने मुक्त जीव की परमात्मा से स्वरूपतः एकता मान ली है। यह उनकी भूल है। स्वयं वेदान्तदर्शन का अन्तिम सूत्र है—

भोगमात्र साम्यलिंगाच्च। वेदान्त। ४.४, २१

एकता भोग मात्र की है। अर्थात् प्रभु के आनन्द मात्र को जीव प्राप्त करता है। उसके सर्वशक्तिमत्त्व, स्रष्टृत्व आदि गुणों की नहीं। ऊपर आए वर्णन के पश्चात् इस प्रश्न पर अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं रहती कि क्या मुक्ति ज्ञान जन्य है या कर्म-जन्य ? आचार की शुद्धि कर्म-जन्य है। वेद ने विद् धातु का प्रयोग किया है। जो प्राप्ति तथा ज्ञान दोनों का बोधक है। ऋ० १. १६४. २१ में जहां अमृत की प्राप्ति 'विदथा' कही है वहां प्राप्त करने वाले को 'सुपर्ण' अर्थात् शोभन-कर्म युक्त कहा है। फिर विदथा का अर्थ है 'ज्ञान से' तथा 'यज्ञ से'। वेद मार्ग में न ज्ञान हेय है न यज्ञ। दोनों 'विदथ' होकर मुक्ति के साधन हैं। उन दो मार्गों का विश्लेषण आधुनिक तार्किकों का किया हुआ है। योगीश्वर कृष्ण तथा योगिराज दयानन्द मुक्ति के लिये कर्म ज्ञान का समन्वय मानते हैं। गीता में स्पष्ट कहा है—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडित।

ज्ञान और कर्म को पृथक् बताने वाले बालक हैं, पंडित नहीं। ज्ञान में कर्म की पूर्ति होती है। अर्थात् परिपक्व कर्म ज्ञान बनता है और फिर कर्म में ज्ञान की सफलता होती है। अतः दोनों साथ-साथ चलते हैं।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

योग की सीढ़ी पर चढ़ने के इच्छुक के लिए कर्म ही शान्ति का साधन है। उस सीढ़ी पर चढ़ गये के लिये शान्ति कर्म का साधन है। ऋषि दयानन्द ने मुक्ति को सान्त कहा है। इसमें कारण यह है कि जो पदार्थ जन्य है वह अनन्त नहीं हो



वीतराग स्वामी श्रद्धानन्द जी

सकता । आत्मा स्वभाव से मुक्त होता तो बन्धन उस पर आ ही न सकता । उसका बद्ध होना ही सिद्ध करता है कि वह स्वभाव से मुक्त नहीं । बन्धन को भ्रम मानना एक नए भ्रमजाल में पड़ना है । भ्रम ही हो तो उसकी भ्रममात्र सत्ता ही पारमार्थिक मुक्ति को बाधित करती है । भ्रम मिटाने पर भी तो मुक्तिजन्य ही रहेगी । जिसका आरम्भ होता है, उसका अन्त क्यों नहीं ?

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात्पितरं च दृशेयं मातरं च ॥
अग्नेर्वयं प्रथमस्य मृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ॥

ऋ० १, २४, १-२

मुक्तों में से हम अत्यन्त सुखस्वरूप आनन्दमय प्रभु का नाम अर्थात् गुणों का सम्यक् मनन करते हैं । वह आनन्दस्वरूप प्रभु हमें अटूट विशाल (कर्मफल) व्यवस्था के अधीन करे (जिससे) हम फिर माता-पिता को देखें (अर्थात् जन्म धारण करें) । मुक्तों में से हम विभु अग्नि का...ऋषि दयानन्द ने यह मन्त्र मुक्ति से पुनरावृत्ति पर लगाये हैं । विपक्षी इनका प्रकृत पुनर्जन्म को बतलाते हैं । हमारी समझ में 'अमृतानां (मध्ये) वयं' इन शब्दों से स्पष्ट इस मन्त्र का वक्ता मुक्त मनुष्य प्रतीत होता है । यदि 'अमृतानां' का सम्बन्ध 'वयं' के स्थान में 'कतमस्य' अत्यन्त सुखस्वरूप और 'प्रथमस्य विभु' अथवा अनादि-प्रभु इन शब्दों के साथ जोड़ दिया जाय तो भी प्रभु के नाम का सम्यक् मनन करने का फल आवागमन चाहना युक्ति-युक्त नहीं । सम्यक् ध्यान का फल मुक्ति होनी चाहिए 'माता-पिता का दर्शन' मात्र नहीं । इसके विपतरी मुक्त जीवों का प्रभु की महिमा का मनन करना स्वाभाविक है । वहां फल की आकांक्षा नहीं । जन्म ग्रहण का विचार प्रभु के अटूट नियम 'मही अदिति' के पालन की दृष्टि से ऐसा होना आवश्यक है और सम्यक् ज्ञानी होने से मुक्त को इससे ग्लानि नहीं हो सकती । बद्ध जीव को माता-पिता का दर्शन इस जीवन में हो रहा है । उसे दूसरे जन्म की भावना प्रभु-भक्ति के साथ क्यों हो ? हम हैरान हैं कि साधारण पुनर्जन्म पर यह मन्त्र कैसे घटाए जा सकते हैं ? ऊपर बताया जा चुका है कि तार्किक युक्ति मुक्ति से पुनरावृत्ति के पक्ष में हैं । वेद का आदेश भी यही है । ऋग्वेद मण्डल ९ का ११३वाँ सूक्त मुक्ति का वर्णन सोम नाम से करता है । सारा सूक्त पढ़ने और अपने विचार तथा आचार भवन की आधार-भित्ति बनाने योग्य है । इस सूक्त का एक मन्त्र हम नीचे उद्धृत करते हैं—

यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्ठपम् ।
स्वधा च यत्र तृप्तिश्च माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥

ऋ० ९, ११३, १,

जहां कामना का कामनापन दब जाता है, जहां आत्मावस्थिति की पराकाष्ठा है, जहां सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र आत्मतृप्ति है वहां हे अमृत प्रभो ! मुझे अमर बना । इन्द्रियपति संयमी आत्मा के लिये सब ओर इस सुख का प्रवाह हो । मुक्ति के स्वरूप का ऐसा सुन्दर विषय-वासनाओं से उच्च, भौतिक ब्रह्माण्डातीत, केवल आत्मस्वरूप वर्णन वैदिक धर्म का सर्वोत्तम प्रसाद है । इससे ऊंचा न तर्क जा सकता है न कोई और देव-प्रेरणा । इस बात के होते यह कैसे कहा जाए कि धर्म के क्षेत्र में विकास हुआ है ?

सार

बद्धजीव

कई लोगों को जीवन भार है। कई लोग मृत्यु से डरते हैं। मुक्त पुरुष जीवन की कर्म कठिनाई से घबराता नहीं, और मृत्यु का जीवन सदृश स्वागत करता है। उसका परिश्रम अनथक्य है। सफलता निष्फलता उसके लिये समान हैं। जीता हुआ वह ग्लानियों से ऊपर है। मर कर कल्प-पर्यन्त जीवन-लाभ करना है। उस जीवन में मृत्यु नहीं होती, इसलिये उसे अमृत कहते हैं। मुक्त स्वभाव परमात्मा हैं। आत्मा की मुक्ति परिश्रमसाध्य है। स्वभाव सिद्ध होती तो अब भी प्राप्त होती। मुक्ति भ्रम से बाधित हो तो भी बाधित ही है। तब भ्रम का उच्छेद परिश्रमसाध्य रहा।

तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति। य०

उसे जानकर मनुष्य मृत्यु से पार होता है।

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति। ऋ०

जहां शोभन कर्मयुक्त मनुष्य निरन्तर अमृत पान करते हैं। मुक्ति का साधन परमात्मा को आधार बना उसका आधेय बनना है। इसी को परमात्म-विद्या कहते हैं। संस्कृत में 'विद्' धातु का अर्थ 'ज्ञान' भी है, 'प्राप्ति' भी। दूसरा ज्ञान इन्द्रिय-जन्य है, परमात्मा का साक्षात्कार स्वयं आत्मा करता है। वही साक्षात्कार ज्ञान और प्राप्ति दोनों हैं। इस साक्षात्कार का साधन है अष्टांगयोग, जिससे चित्त स्थिर होकर मन का निरोध होता है। तब आत्मा और परमात्मा का आनन्द विषयक ऐक्य होता है।

भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च। वेदान्त ४. ४. २१

कर्मज्ञान समुच्चय

श्रीकृष्ण कर्म और ज्ञान का समन्वय करते हैं—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।

यही मत श्री दयानन्द का है। वेद मुक्ति का साधन विदथ (ऋ० १.१६४.२१) को ठहराता है, जिसका अर्थ है ज्ञान और यज्ञ।

मुक्ति सान्त है

मुक्ति सान्त है जन्य होने से। वेद में कहा है—

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।

को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥

हम मुक्त जीव सुखस्वरूप के गुणों का सम्यक् मनन करते हैं, वह अपनी कर्म फल व्यवस्था के अधीन कर माता-पिता के दर्शन कराए।

मुक्ति का स्वरूप

मुक्ति का स्वरूप पहले कहा जा चुका है। इस सूक्त का एक मन्त्र यहां दिया जाता है—

यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम् ।
स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र मामसृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव ।।

जहां कामनाएं निष्काम हो जाती हैं, जहां स्थिरता की पराकाष्ठा है, जहां आत्माधीनता और आत्मतृप्ति है, वहां मुझे अमर कर……कैसे इन्द्रियातीत केवल आध्यात्मिक आनन्द का वर्णन है !

६—सुख-दुःख की समस्या

ऐहिक सुख में दुःख

हम बता चुके हैं कि निरपेक्ष विशुद्ध आनन्द तो परमात्मा ही का स्वभाव है। **स्वर्यस्य च केवलम्** (अथर्व)। उस आनन्द में क्षति नहीं होती, अन्तर नहीं पड़ता। इसके प्रतिकूल जीवों के सुख में दुःख की मात्रा मिली हुई है। ऐहिक सुख सभी सापेक्षिक सुख हैं। संसार भर के प्राणी एक दूसरे की तुलना से सुखी-दुःखी हैं। न कोई केवल सुखी है, न कोई केवल दुःखी है। जीव को विशुद्ध सुख का अनुभव मुक्तावस्था में होता है। उस अवस्था की सिद्धि, चाहे जीते जी हो जाय, चाहे मरकर, वह सुख ऐहिक नहीं, उस पार का सुख कहलाता है। इस समय कई वाद ऐसे प्रचलित हैं जो दुःख की सत्ता से ही इन्कार करते हैं। इनमें प्रमुख मानसिक चिकित्सावाद है। इस वाद के अनुयायियों का मत यह है कि मनुष्य संकटों की कल्पना अपने मन से करता है। यदि हर समय यही विचार किया जाय कि दुःख कोई वस्तु नहीं, मैं निर्मल निर्लेप हूं मुझे कोई पाप पाखण्ड छू नहीं सकता, तो सभी रोगों का नाश हो जाता है। इस वाद ने कई स्थानों में अपना सिक्का प्रत्यक्ष परीक्षणों द्वारा जमाया है। तर्क द्वारा विचार किया जाए तो यह संकल्प करना भी कि मैं निष्पाप हूं, मुझे दुःख नहीं छू सकता, दुःख की सत्ता काल्पनिक हो तो भी तो उसकी सत्ता हुई, जिसके विनाशार्थ उक्त जप का विधान है। वास्तव में यह समस्या इतनी सरल नहीं। योगसाधन से आत्मा इतना ऊंचा हो सकता है कि सुख-दुःख के अनुभव से ऊपर हो जाए। गीता के कथनानुसार—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।

परन्तु केवल संकल्प मात्र से ऐसा नहीं हो सकता। उक्त अवस्था जीवन्मुक्त पुरुष की ही हो सकती है। उसे आत्मरति के कारण शेष सुख तथा दुःख का भान नहीं होता। जैसे किसी विशेष रस के प्रबल आस्वाद के समय शेष रस उस रस में लुप्त हो जाते है, ऐसे ही आत्मानन्द—जो सब आनन्दों में परम है—की प्राप्ति की अवस्था में ऐहिक सुख-दुःख का माप तो साधारण जनों की दृष्टि ही से होगा। मुक्त पुरुष सुख-दुःख का ज्ञान रखता है, परन्तु अपने लिए वह उसके भान-मात्र से ऊंचा हो जाता है। इसके विपरीत संसारी लोगों में सुख-दुःख का तारतम्य रहता ही है। स्वयं आयु एक भोग है। इसकी अवधि सबके लिए बराबर नहीं। कोई जन्म लेते ही मर जाता है, कोई सौ वर्ष और कोई उससे भी अधिक आयु भोगता है। फिर स्वास्थ्य-सुख, सम्पत्ति-सुख, इन सब सुखों की मात्रा सबके लिये बराबर नहीं। न यह बात ही ठीक उतरती है कि प्रत्येक व्यक्ति के सब सुख मिल-मिलाकर दूसरे व्यक्तियों के सुख दुःख के समान हों। हमारा इस तारतम्य की ओर निर्देश करने का अभिप्राय यह नहीं कि दुःख केवल आपस की स्पर्धा में है, यद्यपि मत्सर और स्पर्धा संसार के संकटों का बहुत बड़ा भाग है। हमने यहां इस तारतम्य का वर्णन इसलिये किया है कि तारतम्य में किसी भी वस्तु की सत्ता का बोध अधिक स्पष्टता से होता है। यदि सब प्राणियों की सुख की मात्रा समान हो, तो उसे सुख या दुःख कहने में कोई हेतु निर्णायक न हो सकेगा। सुख दुःख का तारतम्य ही सुख-दुःख की पहेली को उपस्थित करता है। यह तारतम्य कैसे आता है ? प्रकृतिवाद इस तारतम्य का उत्तरदायित्व परिस्थिति भेद पर डालता है। यदि केवल भौतिक परिस्थिति-भेद इस तारतम्य की पहेली को बुझा दे तो अध्यात्मवाद नहीं रहता। प्राकृतिक विज्ञान की आवश्यकता भौतिक परिस्थिति की ओर निर्देश कर देने से पूरी हो जाती है। कोई शरीर निर्बल है। इसका कारण वैज्ञानिकों की दृष्टि में यही है कि इसके माता-पिता दुर्बल थे, अथवा इसे खाने को पूरा अन्न नहीं मिलता ? एक जीव को खाने को पूरा मिले दूसरे को नहीं। यह क्यों ? जन्म ही क्यों विविध स्थिति के वंशों में होता है ? मेरा यत्न सफल नहीं होता और मेरे पड़ोसी को सफलता सहसा मिल जाती है। भौतिक कारण कुछ हों। इनसे आत्मा की सन्तुष्टि नहीं होती। परमात्मा की इच्छा मात्र पर इस तारतम्य का भार डालने वाले धर्मवादी परमात्मा से न्याय नहीं करते। अपनी असफलता का उत्तरदायित्व दूसरे पर डालना कुछ वीरोचित धीरता नहीं। मनुष्य स्वभाव से न्याय चाहता है। परमात्मा को सभी प्राणी एक समान हैं। वह अपने अमृत-पुत्रों के सुख-दुःख में तारतम्य क्यों करता है ? क्या यह सब ठठोल है ? किसी ठठोली को इस उत्तर से संतोष हो जाता होगा। धीर पुरुष अवश्य अपने भाग्य के मूल बीज का अपने ही कर्मों में अनुसन्धान करेंगे। कुछ आपत्तियां, असफलतायें, कुछ रीतियां ऐसी हैं जिनकी सत्ता का कारण हमारे इस जीवन के कर्म नहीं ठहराए जा सकते। उदाहरणतया मातृ-पितृ-जन्य संस्कार इस जन्म के किन कर्मों का फल हो सकते हैं। माता-पिता की अपनी आत्मिक सत्ता भी तो है। फिर उनके सुकर्मों या कुकर्मों का फल सन्तति को क्यों भोगना पड़े ? एक मनुष्य किसी रोगी अथवा व्यसनी पिता के घर जन्म लेकर पैतृक रोग तथा व्यसन का भी दायभागी होता है, दूसरा इसके विपरीत स्वस्थ साधु-स्वभाव वंशजों की सन्तान होकर जन्मकाल से ही हृष्ट-पुष्ट शरीर तथा निर्दोष मन और

मस्तिष्क का भागी बनता है। कारण? क्या यह सब कुछ आकस्मिक है? या किसी लीलाप्रिय विगत-मर्याद प्रभु की लीलामात्र है? दोनों अवस्थाओं में पुरुपार्थवाद के नीचे से इस वाद का यौक्तिकाधार ही खिसक जाता है। यदि जीवन केवल-मात्र आकस्मिक घटनाओं की शृंखला है तो कोई सुकर्म क्यों करे? पुरुषार्थ क्यों करे? मिलता तो वही है जो परमात्मा चाहता है। और (अथवा या) प्रकृति ला देती है। इस धारणा में न वीरता है न बुद्धिमत्ता। वास्तव में वर्तमान जीवन किसी भी आत्मा का पूर्ण जीवन नहीं। जीवन समस्या का समाधान इकले इस जीवन से नहीं होता। जीवनों की लड़ी प्रतीत होती है। इस जीवन से पूर्व और परे अन्य जीवनों की शृंखला होनी आवश्यक है। वह शृंखला वर्तमान सुख-दुःख के तारतम्य का कारण बता कर तत्सम्बन्धी समस्या का समाधान कर देती है। एक जन्म का किया कुछ उसी जन्म में फलित होता है कुछ दूसरे जन्मों में। अनन्तकाल की अपेक्षा से किसी प्राणी का एक जीवन, समुद्र में एक विन्दु से अधिक सत्ता नहीं रखता। जैसे एक क्षण का किया उसी क्षण में ही फलित हो, यह बात आवश्यक नहीं। जैसे एक ऋतु का बोया किसी दूसरी ऋतु में उगता तथा पकता है, ऐसे ही एक जन्म की कमाई दूसरे जन्म में भोगी जाती है। अनन्तकाल की अपेक्षा से एक क्षण और एक जीवन बराबर है। इस धारणा के होते मृत्यु का महत्त्व कम हो जाता है। सुखवाद के उथलेपन के स्थान में गम्भीर धैर्य का विकास होता है, और मनुष्य उस रास्ते में पड़ जाता है जिस का ध्येय पुरुषार्थ है। अनन्तकाल की भावना में गहराई है। हम अनादिकाल से आते हैं, अनन्तकाल तक रहेंगे। हम विधाता की क्रीड़ा मात्र नहीं। हम अपने भाग्य का निर्माण करते हैं। कैसे उत्तम भाव हैं? इन सब भावों का प्रादुर्भाव पुनर्जन्म के सिद्धान्त से सम्बन्ध रहता है। वेद कहता है—

य ई चकार न सो अस्य वेद य ई ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश ॥

ऋ० १, १६४, ३२

जिसने इस (गर्भस्थ को) बनाया है (अर्थात् पिता-माता) वह इसे नहीं जानता। जो इसे देखता है, (अर्थात् परमात्मा) वह इससे छिपा हुआ है। जीव बहुत जन्मों को प्राप्त होकर भोग को प्राप्त होता है।

जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।

मरणधर्मा शरीर का अमर जीव अपनी इच्छा से मरने वाले (शरीर) के साथ सयोनि होकर गमनागमन करता है। कईयों का विचार है कि इस जीवन की समाप्ति पर एक नए जीवन का आरम्भ होता है। उस में कुकर्मियों को अनन्त दण्ड और सुकर्मियों को उनके सुकृत का अनन्त फल मिलता है। सान्त कर्म का अनन्त फल युक्तियुक्त नहीं, इस वाद पर अन्धेर नगरी चौपट राजा वाली कहावत ही चरितार्थ होती है। कइयों ने अनन्त दण्ड के अत्याचार को तो समझ लिया है, परन्तु अनन्तसुख-भोग में उन्हें आपत्ति नहीं। इसे वे परमात्मा की दया का परिणाम समझते हैं। यह मत कर्म-भीरुओं का ही हो सकता है। परमात्मा स्वभाव से दयालु हैं। स्वयं कर्म-व्यवस्था उनकी दया है। पुण्य और पाप का फल भौतिक भी है, यह अध्यात्मवादियों के लिए महान् सन्तोष का कारण है। इसीमें उनका प्रायश्चित्त है। किसी पाप के लिए

दुःख न भोग केवल उसकी वासना में रहना पड़े, अध्यात्म-दृष्टि के अभ्यासियों को यह असह्य है। यदि बिना निमित्त दया के ही आश्रय से रहना है तो कर्म-फल का झंझट ही उड़ा देना चाहिए। कुछ समय के लिए भी पापियों को नरक का द्वार क्यों दिखाना ? जो दया इस अस्थायी नरक के होने से भी बाधित नहीं होती वह स्वर्ग के अस्थायी होने से भी बाधित न होगी। स्वर्ग वही है जो हम सुख विशेष के रूप में इस संसार में भोगते हैं। पुनर्जन्म की कई प्रत्यक्ष साक्षियां आए दिन प्राप्त होती हैं। थोड़े-थोड़े समय पीछे कोई-कोई बालक ऐसा उत्पन्न होता है जो अपने पिछले जन्म की स्मृतियां साथ लाता है। ऐसे बालक भी देखने में आते हैं जो बिना सिखाए छोटी सी अवस्था में किसी कला-विशेष, यथा गान, गणित, कविता इत्यादि में निपुण पाए गए हैं। वैज्ञानिकों के इन परीक्षणों का समाधान पुनर्जन्म के अतिरिक्त क्या है ? क्या अल्पवयस्क मनुष्यों के यह चमत्कार-पूर्ण कर्तव्य सुख-विशेष नहीं ? एल. ई. ट्रिष्टम ने दिसम्बर १९२४ के 'थ्योसोफिस्ट' में "चमत्कारी बालक" शीर्षक लेख छपवाया था जिसका कुछ उदाहरण अनुवाद के शब्दों में नीचे दिया जाता है— न्यूयार्क ईवनिंग पोस्ट से उद्धृत—

रागी बालक

रागविद्या के क्षेत्र में एक बालक सब को बड़े आश्चर्य में डाल रहा है। उसने आठ वर्ष की आयु में ही कई ऐसे गीत बनाए हैं, जिन्होंने कि डर्क फौच और थ्योडोर का भी ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। अमेरिकन ढंग के चेहरे से युक्त यह अद्भुत बालक निकोलिन जैडलर का लड़का है जो अब संसार की यात्रा को निकला हुआ है और अमेरिकन नैशनल औरकैष्ट्रा का प्रबन्धकर्त्ता है। उसकी असाधारण योग्यता का पता कल उस समय लगा जब उसने मिस्टर Engel के घर पर गान किया। टैडी न केवल गानविद्या में प्रवीण है किन्तु वह एक अच्छा कवि और छोटी-छोटी कथाओं का लेखक भी है। इनके अतिरिक्त वह कई प्रकार के नये-नये खेलें भी खेलता है। छोटे बालकों में से कइयों ने रागविद्या में अच्छा अभ्यास प्राप्त किया है। इनमें से मुख्यतम लौरस लूइस लिग्रैन है। यह सीटल में रहती है और उसकी आयु ३ साल की है। वाशिंगटन स्टेट म्यूजिक मैमोरी नामक साम्मुख्य में इसने पूरे १०० अंक प्राप्त किये थे। यह पियानो पर कई कठिन से कठिन गीत निकाल सकती है। Touch method द्वारा टाईटिंग पर भी तेज हाथ चला सकती है और चतुर्थ श्रेणी के योग्य रीडर्स को भी अच्छी प्रकार पढ़ सकती है।

मस्तिष्क सम्बन्धी विचित्रता

ऐनिड ओकलहामा का बालक ऐनवैल मौरी बड़ा ही विचित्र बालक है। उसकी आयु अब तीन वर्ष की है। उसने इससे १८ महीनें पहिले पढ़ना आरम्भ कर दिया था और अब वह शरीर-विद्या, इतिहास और भूगोल विषय में प्रायः सब कुछ जानता है। वह लैटिन में गिनती करता है और रागी है। वह उन पुस्तकों को अनायास ही पढ़ लेता जिन्हें चतुर्थ श्रेणी में पढ़ाया जाता है और इससे भी अधिक यह कि वह अपने पढ़े हुए को अच्छी प्रकार से याद कर सकता है। ऐसे ही लॉस ऐंजल्स हाई स्कूल में मौरेस मर्कं नामक ८ वर्ष का एक लड़का है। परीक्षा करने से पता लगा है कि उसकी मानसिक शक्ति २० वर्ष की आयु के मनुष्यों के बराबर है अर्थात् इस

अंश में यह मस्तिष्क सम्बन्धी अद्भुत योग्यता रखने वालों में से एक है। उसने बहुत समय पूर्व 'कान' द्वारा गायन किया था जो उसे किसी ने सिखाया नहीं था। उसको नक्षत्र विद्या में बड़ा आनन्द आता है और उसका मन उस विषय को पहिले से ही ग्रहण करता है जिन्हें कि कालेज के कई विद्यार्थी समझ भी नहीं सकते। परीक्षक कहता है कि यह बालक एक विषय में ही नहीं किन्तु सभी विषयों में प्रवीण है। वह खेलने में भी वैसी ही चतुरता प्रदर्शित करता है जैसी कि कार्य में। वह अपने आस पास रहने वाले सब लड़कों से दौड़ने, लड़ने, तैरने, डुबकी लगाने में अधिक चतुर है। इन सब बातों के होते हुए भी बालकों की भांति वह अपने स्कूल में सर्व प्रिय बालक है। नैथेली केन नाम का एक अन्य बालक है जिसकी आयु अभी ११ वर्ष की भी नहीं है किन्तु उसकी कविताओं का प्रथम भाग प्रकाशित हो रहा है। Wonderchild नामक सामुख्य का विजेता ऐलबर्ट जे हौयत नाम का ७ वर्ष का बालक है। यह बालक अपने ही ढंग का विचित्र बालक है। इसने पक्षियों के विषय में एक पुस्तक लिखी है जिसका चित्रकार भी यह स्वयं ही है। इसने कई अन्य कथाएं और कविताएं भी लिखी है। यह बालक इतिहास, भूगोल गणित, विज्ञान, नक्षत्रविद्या और साहित्य में अति प्रवीण है। यह अपनी स्मृति-शक्ति द्वारा ही सब जातियों के झण्डों का चित्र खीच सकता है।......रात्रि के आकाश से वह ऐसा परिचित है जैसे अपने बाग से। वह बिना किसी कष्ट के अपने टैलिस्कोप से जहां चाहे वहां नक्षत्रों को देख सकता है। इसके अतिरिक्त वह खेलने कूदने में भी बहुत प्रवीण है।

प्रचारक बालक

परन्तु इन सबसे बढ़कर जो सबको आश्चर्य में डालता है वह प्रचारक बालक है। न्यूटन हेस्टिंग नामक एक ७ वर्ष का बालक है जो अपने प्रचार द्वारा मनुष्यों को स्तम्भित और चौकन्ना कर देता है। वह अपने निवास-स्थान सलसबरी से सारे राज्य में भ्रमण करता है और जब भी यह विज्ञापन दे दिया जाता है कि उसका उपदेश होगा तो गिरजा अवश्य भर जाता है। उससे हाथ मिलाने की प्रतीक्षा में लोगों की भीड़ खड़ी रहती है। वह स्कूल की द्वितीय श्रेणी में है और अभी लिखना-पढ़ना सीखने लगा है। इसलिये अपने उपदेशों को वह तैयार नहीं कर सकता......उस का बाप उन सुधरे हुए मनुष्यों में से एक है जिन पर उसके उपदेशों का प्रभाव पड़ा है। जब उस ने अपने पुत्र की प्रतिभा शक्ति को देखा तो वह गिरजे में भरती हो गया और अब श्रद्धा से वहां सेवा करता है।

दुःखवाद

हमने ऊपर निर्देश किया है कि ऐहिक सुख में भी दुःख की लाग पाई जाती है। निराशावादी इस सिद्धान्त को अति की सीमा तक ले जाते हैं। कुछ समय से बौद्धधर्म के विषय में यह कल्पना प्रचलित थी कि यह धर्म निरपेक्ष दुःखवादी है, इस का ध्येय अभाव की प्राप्ति है। वर्तमान खोज ने इस धारणा को निर्मूल कर दिया है। आत्म-हत्या ऐहिक दुःखों से छुटकारे का एक मात्र उपाय है। यह प्रस्ताव प्रसिद्ध जर्मन विचारक शोपनहावर का है परन्तु उसने स्वयं आत्म-हत्या नहीं की, किन्तु समय आने पर ही मरा, यह स्वमत का प्रत्यक्ष खण्डन है। वेद ने आत्म-हत्यारे को महापापी कहा है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः

तांस्ते प्रेत्याभि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ य. ४०-३.

घोर अन्धकार से घिरी हुई अदैव अवस्थाएं ऐसी हैं जहां आत्म हत्यारे मरकर भी जाते हैं।

यदि मर जाना अभाव को प्राप्त हो जाना होता तो शोपनहार के कथन में कुछ सत्य की मात्रा होती। अभाव की अवस्था में सुख न सही, दुःख भी न होता, परन्तु यह तो आत्म-सत्ता ही बता रही है कि आत्मा मरने पर मर नहीं जाता। तभी तो उसने आत्म-हत्या नहीं की जो भीरुओं का मार्ग है और भीरुता स्वयं दुःख है।

ऐहिक सुख, जिस प्रकार साधारण जनता उसे भोगती है, दुःख से शून्य नहीं। इसकी भंगुरता दुःख है। ऐन्द्रिय सुख को स्थिर रखने का कोई साधन नहीं। खाते जाओ, कोई भोग निरन्तर भोगते जाओ, वही स्वयं रोग बन जाता है। भोग का आनन्द कभी-कभी लिया जा सकता है। निरन्तर नहीं। सुख कभी-कभी संयम-पूर्वक भोगने में, संयम इन्द्रिय-जन्य नहीं, आत्मजन्य है। यह तो हुई संसार के भोगों की अवस्था कि वह भी विना वशीकार के वश में नहीं आते फिर आत्मरति का तो कहना ही क्या है? सुकरात को विष के प्याले से ग्लानि नहीं होती। ईसा सूली पर परमात्मा की इच्छा की पूर्ति चाहते हैं। दयानन्द फफोलों भरे शरीर में प्रसन्नवदन रहते और जब इस भोग की समाप्ति होती है, वही महात्मा ईसा के शब्द दोहरा देते हैं। कारण क्या? इन्हें दुःख का होना तो प्रत्यक्ष है, परन्तु उसका भान नहीं। संसारी लोग गम दूर करने को मादक द्रव्यों का आश्रय लेते हैं। कुछ समय के लिए इनसे मस्ती आ जाती है परन्तु उस मस्ती का उतार कठोर यातना होता है। आत्मज्ञानी नाम खुमारी में मस्त रहता है। उसके अन्तर्हृदय में बोध उत्पन्न हो जाता है कि मैं शरीर नहीं। सांसारिक द्वन्द्व 'मात्रास्पर्श' देहमात्र को छू जाने वाले हैं।

इन्द्रायेन्दो परिस्रव। ऋ० ९, ११३

इन्द्रियों के अधिपति के लिए आत्म-ज्ञान की गंगा बहती है।

योगी संसार के कार्य से विमुख नहीं होता। आपत्तियों में आता है, झंझटों में पड़ता है, क्योंकि यह तो देह-धर्म है। शरीर-यात्रा में कर्म करना आवश्यक है। साधारण जनों में और योगी महात्मा में भेद यह होता है कि वह तो केवल इन्द्रियों के ही सुख-दुःख का अनुभव करते हैं जो चिरस्थायी नहीं, और इसे एक स्थिर सुख की निरन्तर अनुभूति होती है उस अनुभूति का प्रभाव इतना होता है कि ऐहिक सुख दुःख का उस में लोप हो जाता है। ऐहिक सुखों में भी सुख पाना उसी योग के साधन 'संयम' से आता है।

तेन त्यक्तेन भुंजीथाः। य० ४०, ३

इसलिए तू त्यागपूर्वक भोग कर।

यह त्याग अर्थात् आत्मवशीकार का भाव अध्यात्म जगत् की उपज है अनात्मा की नहीं।

वेद ने आत्म-हत्या को पाप और उसका परिणाम राक्षसी भाव ठहरा कर दुःख से बचने का उपाय बताया है—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत । अ०

य इन्द्रोः पवमानस्यानु धामान्यक्रमीत ।
तमाहुः सुप्रजा इति हस्ते सोमाविधन्मन
इन्द्रायेन्दो परिस्रव ।।

ऋ० ६, ११४, १,

जिसने पवित्र करने वाले आत्म-ज्ञान के साधनों का अनुष्ठान किया, हे आत्म-रति ! जिसने मन को तेरे अर्पण किया, उसका जन्म सफल हुआ । हे आत्म सुख की गंगा ! उस आत्मवशीकर्त्ता के चारों ओर बह !

सार

वास्तविक सत्ता

मानसिक चिकित्सावाद वालों का मत है कि दुःख की कोई सत्ता नहीं । केवल अपने भ्रम से मनुष्य दुःख की सृष्टि करते हैं । निराशावादी संसार को दुःख ही दुःख का हेतु मानते हैं । यह दोनों की भूल है । तर्क भ्रम मात्र सत्ता को भी उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकता । दुःखवादी शोपनहावर को आत्म-हत्या का साहस नहीं हुआ । उसका जीवन उसके मत का खण्डन था ।

तारतम्य

लोगों की आयु समान नहीं, सन्तति समान नहीं, सम्पत्ति समान नहीं, स्वास्थ्य में भेद है । मानसिक योग्यताओं का भेद है । यह भी नहीं कि एक अङ्ग की कमी दूसरे अङ्ग की अधिकता से पूरी हो जाए । व्यक्तियों के भोग में वस्तुतः तारतम्य है, यही तारतम्य सुख-दुःख की पहेली है ।

कर्म का फल

यह तारतम्य कहां से आता है ? प्रकृतिवादी कह सकता है, परिस्थिति-भेद से, परन्तु परिस्थिति-भेद क्यों होता है ? आत्मवादी आत्मा को प्रकृति का खिलौना नहीं बना सकता । परमात्मा की इच्छामात्र को इस तारतम्य का कारण मानना परमात्मा को या पक्षपाती मानना है या केवल तरंगी और यह किसी धर्मवादी को अभीष्ट नहीं । धीर पुरुष अपने सुख-दुःख का उत्तरदायित्व अपने ही ऊपर डालेंगे अर्थात् इसे जीव के कर्मों का फल ही ठहराएंगे । वेद आत्मा को **स्वधया गृभीतः** (ऋ० १, १६४, ३८) कहता है अर्थात् जीव स्वतन्त्रता से ही बन्धन में पड़ता है ।

पुनर्जन्म

कुछ भाग ऐसे हैं जो जन्म के साथ आते हैं जैसे वंशज स्वभाव, वंशज स्वास्थ्य, वंशज सम्पत्ति आदि । यह इस जीवन के कर्म के फल नहीं । नाही इस जीवन के सभी कर्म इसी जीवन में फलित हो जाते हैं । यदि ऐसे भोगों और कर्मों को आकस्मिक मान लिया जाए तो पुरुषार्थवाद के लिये कोई यौक्तिक आधार नहीं रहता । जीवनों की एक शृंखला प्रतीत होती है जो अनादि काल से चली आती है और अनन्तकाल तक चली जायेगी ।

स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहु प्रजा निर्ऋतिमावेश ।

ऋ० १, १६४, ३२

वह माता के गर्भ में लिपटा हुआ बहुत जन्म धारण करता और भोग को प्राप्त होता है ।

पुनर्जन्म के प्रत्यक्ष प्रमाण वे चमत्कारी बालक हैं जो छोटी आयु में गान, कविता तथा उपदेश आदि का कार्य निपुणता से कर सकते हैं । इनसे भी स्पष्ट और अकाट्य साक्षी उन बालकों की है जो अपने पूर्व-जन्म का वृत्तान्त सुनाते हैं और जब उनके निर्देशानुसार उन्हें अपने पूर्व जीवन के निवास स्थान में ले जाकर पूछताछ की जाती है तो उनका वृत्तान्त प्रायः सत्य सिद्ध होता है । ऐसे उदाहरण ऊपर दिए जा चुके हैं ।

जीवन्मुक्ति

इन सब दुःखों के सत्य होते हुए भी आध्यात्मिक आनन्द का रस इतना प्रबल है कि यदि वह प्राप्त हो जाए तो भौतिक सुख दुःख का उस आनन्द में लोप हो जाता है । भौतिक आनन्द भी संयम पूर्वक ही भोगे जा सकते हैं, अन्यथा वह स्वयं रोग बन जाते हैं और यह संयम अध्यात्म पक्ष की चीज है ।

तेन त्यक्तेन भुंजीथाः । यजु० ४०, १

इसलिये त्याग पूर्वक भोग कर ।

यही संयम आत्मवशीकार है । इसी के अभ्यास से मनुष्य आत्मरति को प्राप्त करता है जिससे मुक्ति होती है ।

इन्द्रायेन्दो परिस्रव

हे अमर सुख की गंगा ! संयमी के चारों ओर बह । यही जीवन की सफलता है । वेद की आज्ञा स्पष्ट है—

य इन्दोः पवमानस्यानु धामान्यक्रमीत् ।
तमाहुः सुप्रजा इति यस्ते सोमाविधन्मन इन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥

ऋ० ९, ११४, १

जिसने पवित्र करने वाली आत्मरति के साधनों का अनुष्ठान किया, जिसने अपना मन इस आत्मरति के अर्पण किया, उसे सफल-जन्म कहते हैं । उस आत्म-वशीकारी के चारों ओर अक्षय आनन्द की गंगा वहती है ।